आस्था

हर नन्दन 'हर्ष'

ચિ: વિનય કુમાર ગાવડયોને

સસ્નેહ, સહર્ષ

'હર્ષ'

30. ૮. ૧૯૮૦

[illegible]

કિ૦ ૧-૮૦

आस्था

हरनन्दन बाजपेयी 'हर्ष'

विकासिका

कानपुर

❁ हरनन्दन बाजपेयी 'हर्ष'

'ASTHA' POETRY
by Harnandan Bajpai (Harsh)

मूल्य–बीस रुपये
सजिल्द मूल्य–तीस रुपये

विकासिका ८७/२४१ 'आचार्य निकेतन' आचार्य नगर, कानपुर, द्वारा प्रकाशित एवं उदय प्रिंटिंग प्रेस, सूटरगंज, कानपुर द्वारा मुद्रित ।

-: विषय सूची :-

भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक

बहुभाषाविद् कविहृदय डॉ० कर्णसिंह जी को पूर्ण

आस्था सहित समर्पित

यह

'आस्था'

लोकार्पण एवं सरस काव्य समारोह

मानस संगम

महाराज प्रयागनारायण मन्दिर

(शिवाला) कानपुर

● श्रावण शुक्ल ११ संवत् २०४७

गुरुवार २ अगस्त १९९०

आमुख

● शिव वर्मा

अंगरेजी के सुप्रसिद्ध साहित्य समीक्षक क्रिस्टोफर काडवेल ने एक स्थान पर लिखा है कि कवि का कल्पना जगत उसके सामाजिक यथार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है। बन्धुवर हरनन्दन बाजपेई "हर्ष" जी का प्रस्तुत काव्य संग्रह काडवेल के उपरोक्त कथन की अक्षरशः पुष्टि करता है। श्री वाजपेई जी का जन्म मध्यम वर्ग के एक बुद्धिजीवी परिवार में हुआ था। आज के मध्यम वर्ग की अपनी समस्यायें हैं। एक ओर बड़ी-बड़ी आकांक्षाओं, अभिलाषाओं का जमघट है, सुखी सम्पन्न भविष्य के सुनहले सपने हैं, प्यार के नगमों में गुथे परिवार की ललक है, बच्चों की किलकारी से गूँजते आँगन की चाह है, तो दूसरी ओर है भग्न आकांक्षाओं, बिखरी अभिलाषाओं, टूटे हुये सपनों और विषाद भरे पारिवारिक जीवन का कटु यथार्थ। ऐसी विषमताओं एवं असंगतियों से जूझते-जूझते कभी-कभी मनुष्य थक कर निराश भी हो जाता है और तब उसके इर्द-गिर्द या स्वयं उसके अपने जीवन में जो कुछ हो रहा है उसे विधि का विधान या नियति का खेल कह कर सन्तोष कर लेता है। कभी-कभी वह समस्याओं पर केवल प्रश्न चिन्ह लगा कर ही छोड़ देता है—ऐसा क्यों होता है। हमारे कवि ने इन सभी प्रश्नों पर पाठक के साथ पूरी ईमानदारी बरती है। परिस्थितियों ने जब जैसी चोट दी है और कवि के कोमल हृदय पर उस चोट की जब जैसी प्रतिक्रिया हुई है उसे काव्य के माध्यम से उसने उसी रूप में कागज़ पर उतार दिया है। उद्यमी, पुरुषार्थी, कर्मरत एवं स्वस्थ पिता का अकस्मात निधन हो गया तो मूलतः भाग्यवादी न होते हुये भी उसके मुंह से निकल ही गया कि—

भाग्य परन्तु हँसा कि मुझे भी, विचारों के बाहर होने न देना।

लेकिन यह हर्ष जी का मूल स्वर नहीं है। उनका मूल स्वर है भाग्य के विचार को मन से निकाल कर सतत आगे बढ़ते हुए कर्मरत रहने की प्रेरणा प्रदान करने का :—

व्योम निहारो न व्याकुल हो हो के, कर्म करो तम तार मिटा दो।
भूमि कुरेदो न लज्जित हो, दृढ़ शक्ति लगा भव भार मिटा दो॥
लक्ष्य पुकार रहा तुमको कि, उठो उठ भाग्य विचार मिटा दो।
है कुछ भी न अप्राप्य असम्भव का, जग से अधिकार मिटा दो॥

इसी प्रकार आज के युग में साधारण स्थिति का एक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी कभी-कभी परिस्थितियों की जकड़ में फँसकर अपने को नितान्त असमर्थ एवं असहाय अनुभव करने लगता है और जब उसे उन परिस्थितियों की जकड़ से निकलने का कोई रास्ता नहीं दिखलाई देता है तो विवशता के उन क्षणों में वह कहने लगता है :—

कब क्या हुआ, क्यों हुआ, कैसे हुआ, कुछ ज्ञात न कारण एक भी है।
करुणाकर तेरे सिवा भव के, भय का न निवारण एक भी है।

लेकिन यह विवशता और निराशा भी कविवर हर्ष का मूल स्वर नहीं है। मूलतः वे आशावादी हैं और अपने मनोबल पर विश्वास करते हैं :—

एक अदम्य मनोबल दे मेरी आशा मुझे बलवान किये रही।

आज के युग का एक महत्वपूर्ण यथार्थ यह है कि हमारे देश का औसत बुद्धिजीवी अपने तमाम वर्गीय ढुलमुलपने के बावजूद, अपनी क्रान्तिकारी क्षमताओं से अवगत हो चुका है। वह सभी पुरानी रूढ़ियों, सभी पतनोन्मुखी सामाजिक बन्धनों और सामने आने वाली विघ्न बाधाओं को तोड़कर आगे जाना चाहता है और हर्ष जी की रचनाओं का यही मूल स्वर है। उनका कहना है कि :—

शूल भरे पथ पे पगों में, गति लाये तो मानव मानव है।
कण्ठ लगा कठिनाइयों को, मुसकाये तो मानव मानव है।
घोर निराशा में आशा के, दीप जगाये तो मानव मानव है।
विस्मय हो विधि को, वह छाप लगाये तो मानव मानव है।

वे सत्य और असत्य की किसी बँधी टिकी परिभाषा के भी कायल नहीं हैं। उनके निकट जो तत्वों की कसौटी पर खरा उतर सके और बुद्धि-ग्राह्य हो वही सत्य है :—

तुली तथ्य की तोली तुला पर चाहिये, सत्य की स्वस्थ समीक्षा मुझे।
वही मान्य है बुद्धि जो मान ले, अन्य प्रमाण की है न प्रतीक्षा मुझे।

और "गर्वोक्ति" में तो कवि अपने सम्पूर्ण वास्तविक रुप में सामने आया है। मेरे मतानुसार संग्रह की यह सर्वोत्तम रचना है। इस रचना में कवि का स्वाभिमान, उसका आत्मविश्वास, गतिरोधों से टकराने का उसका हौसला, समाज को बदलने का उसका सकल्प सब कुछ एक साथ मुखरित हो उठा है :—

स्वागत हो न जहाँ हँस के, उस द्वार के दीन भिखारी नहीं हैं।

और

हो प्रभुता का प्रमाद जिसे, उस देवता के भी पुजारी नहीं हैं।

आगे चलकर कवि का बाहुबली स्वाभिमानी मानव कहता है :—

जहाँ आंधियाँ शैलों को ढा रहीं थीं, हमने वहाँ सींकें खड़ी कर दीं।
महाकाल भी चौंक पड़े, सहसा, हमने जो निगाहें कड़ी कर दीं।
हमीं ने सही मोड़ दिये युगों को, बिगड़ी घड़ियाँ सुघड़ी कर दीं।
हमीं शक्ति हैं स्वायंभुवी, हमीं ने भगवान की बाहें बड़ी कर दीं।

और

हमीं माध्यमों से महाक्रान्तियों के, कर अद्भुत कार्य कलाप चुके हैं।
हमीं काल को बन्दी बना चुके हैं, झुका नन्दी के नाथ का चाप चुके हैं।

और फिर गतिरोधों को पराजित करने का संकल्प दोहराते हुए कवि एलान करता है :—

अभी बोध भी बेबसी का मुझे दें, क्षमता ये नहीं विपदाओं में है।
मुझे तोड़ना है उसी दम्भ को जो, गतिरोधों की दर्प शिलाओं में है।

कविवर हर्ष जी के अनुसार जीवन के उतार चढ़ाव में भी हंसते-खेलते आगे बढ़ने वाले लोग ही दूसरों की नाव पार लगा सकते हैं :—

नाविक तो वही हैं जो सदा, उलझावों में जीवन खोजते हैं।
है तट भी उन्हीं का जो उतार, चढ़ावों, में जीवन खोजते हैं।

"गर्वोक्ति' के अतिरिक्ति उद्बोधन, वर्षा, पथ का तरु, सिन्धु यात्रा, दुनिया, चिथड़े, बसन्त, कला के बारे में, विस्मय हो विधि को

और नया वर्ष रचनायें भी विशेष उल्लेखनीय हैं। अमरत्व के गायक कविवर हर्ष महाकाल को पराजित करने की कामना ले कर बसन्त को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :—

इतना मधु ढालो कि सृष्टि छके, फिर भी मधु पात्र भरे ही रहें।
छवि को इतनी छवि दो, सुषमा के सँवार नये निखरे ही रहें।
वह अक्षय का वर दो कि सदा, तट यौवन के उभरे ही रहें।
मधु को अमरत्व मिले, महाकाल के काले विधान धरे ही रहें।

आज नये वर्ष के दिन भाई हरनन्दन जी के प्रस्तुत काव्य संग्रह की भूमिका लिखने बैठा हूँ। इससे पूर्व भी न जाने कितने नये वर्ष आये और पुराने होकर चले गये। वर्ष पर वर्ष बीत गये लेकिन हालतें ज्यों की त्यों बनी रहीं। अगर कुछ सुधरीं भी तो केवल साधन सम्पन्न लोगों के लिए। गये वर्षों में जन साधारण को जो सब्ज़ बाग़ दिखलाये गये थे उनमें :—

किसी के भी विधान में पीड़ितों के, लिये भाव विमर्श नये नहीं थे।
नहीं जानता हूं इस वर्ष की, हाँ ! गये वर्ष वे वर्ष नये नहीं थे।

और आज फिर नये-नये निर्णयों की घोषणाओं द्वारा नये-नये सब्ज़ बाग़ दिखलाये जा रहे हैं :—

नये लक्ष्य हैं, चिन्तनों की दिशा भी नयी है, नये निर्णय हो रहे हैं।

लेकिन

खड़ा सत्य है मूक बना अब, न्याय के भी क्रय-विक्रय हो रहे हैं।

और अभी तक के गये वर्षों का लेखा जोखा अगर देखा जाय तो :—

नहीं ला सके हैं समता अभी ये, अभी भेद के भाव नहीं मिटे हैं।
अभी दीनता के प्रति वैभव के, घृणा पूर्ण दुराव नहीं मिटे हैं।
नये वर्ष का हर्ष ही क्या, किसी के दुखदाई अभाव नहीं मिटे हैं।
अभी सृष्टि के एक भी पृष्ठ से, रूढ़ि के दुष्ट प्रभाव नहीं मिटे हैं।

तो फिर नया वर्ष किसे माना जाय। कविवर हर्ष ने इसके लिए बड़ी सुन्दर कसौटी प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि :—

छिड़ी युद्ध की क्रुद्ध विभीषिका को जग से जो समूल मिटा सकेगा ।
नहीं लेश भी द्वेष का शेष रहे, वह पावन ऐक्य जो ला सकेगा ।
मिलें कण्ठ से कण्ठ, सहिष्णुता का, हमें जो नया पाठ पढ़ा सकेगा ।
उसी वर्ष को मानूँगा वर्ष नया, वही वर्ष नया कहा जा सकेगा ।

हर्ष जी की अधिकांश रचनायें घनाक्षरी और सवैया में हैं। उन्होंने कुछ गीत भी लिखे हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है और उनमें रहस्यवाद का पुट अधिक। आजकल के पूंजीवादी समाज में चारों ओर से ठोकरें खाने के बाद एक साधारण मध्यमवर्गीय नौजवान की क्या मन:स्थिति होती है और उसे सारे आदर्श और कर्तव्य झूठे एवं थोथे लगने लगते हैं इसका अनुमान उनकी नीचे लिखी पंक्तियों से लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं :—

विश्वासों की नींव हिल गई, सद्भावों का मूल्य गिर गया ।
कर्तव्यों से अरुचि हो गई, आदर्शों से हृदय फिर गया ।
मेरा तो अनुमान यही है, यहाँ विषम व्यापार अधिक हैं ।

जीवन की समस्त विषमताओं की चर्चा कर चुकने के पश्चात् कवि ने उन्हें भी धन्यवाद दिया है कि उन्होंने उसकी आँखें खोल कर उसे यथार्थ के दर्शन करवा दिये और इस प्रकार विघ्न बाधाओं से टकराने के लिये उसे शक्ति प्रदान की। गीतों को देखने से ऐसा लगता है कि यह रचनायें कवि के काव्य जीवन के प्रारम्भिक दिनों की रचनायें हैं आगे चलकर जैसे-जैसे उसके जीवन दर्शन का विकास होता गया वैसे-वैसे उसकी रचनाओं का स्वर भी बदलता गया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाई हर्ष जी की अधिकांश रचनायें घनाक्षरी और सवैया में हैं। मेरे एक आलोचक मित्र जो दुर्भाग्य से अब हमारे बीच में नहीं हैं, सवैया और घनाक्षरी के नाम से ही नाक भौं सिकोड़ते थे। उनका कहना था कि अभिव्यक्ति का यह माध्यम पुराना पड़ गया है। उनके अनुसार काव्य की इस शैली का लालन-पालन सामन्त शाहों के दरबार में हुआ था और उनमें लालित्य कम, चातुर्य अधिक है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि कविता को पिंगल के नियमों से बाँध देने पर उसका मुक्त प्रवाह रुक जाता है। मैं इन दोनों मतों से

सहमत नहीं हूँ। मेरे ख्याल से अभिव्यक्ति के प्रश्न को किसी शैली विशेष से जोड़ना ही गलत है। मुख्य प्रश्न शैली का नहीं सारतत्व का है कवि कह क्या रहा है या कहना क्या चाहता है। कवि का काम जीवन को जीने योग्य बना कर उसे ऊँचा उठाना है। वह पुरातन में जो स्वस्थ और संगत है उससे प्रेरणा लेता है और उसकी रक्षा करता है और जो पुरानी मान्यतायें हमारी प्रगति में बाधक हैं उन पर निर्मम प्रहार करता है। वह वर्तमान को यथास्थिति के रूप में पकड़ कर बैठ नहीं जाता बल्कि उसे गति प्रदान करता है और भविष्य की ओर मोड़ता है। इस नाते वह यथास्थिति को तोड़कर वर्तमान को नयी दिशा प्रदान करता है वह भविष्य का उज्ज्वल, आकर्षक, यथार्थवादी एवं कल्याणकारी चित्र प्रस्तुत कर वर्तमान को उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर होने में प्रेरणा प्रदान करता है।

वह संकीर्णता, दिग्भ्रम, अंधविश्वास, निराशा, कुण्ठा, अगति, पूर्वाग्रह, ध्वंस, समाज विरोधी चिन्तन पद्धतियाँ आदि प्रतिगामी प्रवृत्तियों से निर्ममता पूर्वक जूझता है और क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तनों के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है साहित्य के इस सारतत्व कन्टेन्ट की अभिव्यक्ति के लिये कौन कवि किस शैली को अपनाता है यह उसकी अपनी सुविधा और इच्छा पर निर्भर करेगा यदि कवि का हृदय संवेदनशील है और अनुभूति गहरी है तो उसकी अभिव्यक्ति में प्रवाह भी होगा और दूसरे को हिला देने की शक्ति भी होगी। मैं तुकान्त और अतुकान्त के विवाद को ही निरर्थक मानता हूँ हमारे सामने बहुत से ऐसे कवियों के उदाहरण हैं जिन्होंने हिन्दी काव्य जगत को बड़ी ही सशक्त अतुकान्त रचनायें दी हैं दूसरी ओर छन्दवद्ध तुकान्त श्रेष्ठ रचनायें देने वालों की भी कमी नहीं है। मैं समझता हूँ कि यदि दृष्टिकोण सही है, हृदय संवेदनशील है और अनुभूति गहरी है तो शैली कुछ भी हो रचना सशक्त एवं लोकग्राह्य होगी और उसमें प्रवाह भी होगा। कवि हर्ष जी उसके उदाहरण हैं।

कुल मिलाकर श्री हरनन्दन वाजपेई 'हर्ष' जी की रचनाएँ मुझे अच्छी लगीं। मुझे विश्बास है सहृदय पाठकों को भी यह रचनाएँ पसन्द आयेंगी।

कानपुर, १ जनवरी १९८५ ☐

शुभाशीष

● डॉ० मुन्शीराम शर्मा "सोम"

भगवती भारती कब किस कंठ में बैठकर अपने स्वरों को सजाती और श्रोताओं के लिए हृदयाह्लादिनी बनाती है – कोई नहीं जानता। माँ की कृपा को पाकर पुत्र का सन्तान कहलाना सार्थक हो जाता है। वह करुणा-वरुणालयी की तान का संधान करता है और अपने काव्य द्वारा सरस्वती के वाग्-वरदान की विमल वर्षा करता है जिसे पाकर सभी आप्यायित हो उठते हैं। कविवर पं० हरनन्दन वाजपेयी के काव्य को पढ़ कर मुझे कुछ ऐसी ही अनुभूति हुई।

हर्ष जी के काव्य में व्यर्थ का शब्दाडंबर नहीं, एक मधुमयी तान है जो बरबस पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। तुक मिलाने की शब्द सम्पदा पर दृष्टि डालिये, शब्द-बद्ध विचार सारिणी को सामने लाइये या भावों के ज्वार को परखिये–हर्ष जी सर्वत्र आपको हर्ष में निमग्न कर देंगे :—

आरती शीर्षक छन्द में आप उनके हृद्गत भाव को पढ़ते ही उनके स्वर के साथ समस्वर हो जायेंगे।

क्षालन को पद पंकज वारि,
विवेक सरोवर से भर लाया।
चन्दन के हित अन्तर भक्ति,
लिये, रस रोचन को धर लाया।
माला है काव्य प्रसूनों, की नूतन,
अक्षत को रख अक्षर लाया।
मां ! अनुराग प्रदीप जगा, तव
आरती "हर्ष" सजाकर लाया।

तथा

उठा ऊब हूँ छद्म की माधुरी से,
मुझपे कुछ ऐसी दया करो माँ।
रहें नाम को भी न विसंगतियाँ,
इन्हें चूर्ण यों पूर्णतया करो माँ।
मिटा दो कुसंस्कारों का ध्वान्त मेरे
अपराधों को आया गया करो माँ।
मिले हर्ष ही "हर्ष" के मन्दिर में,
अब ऐसा प्रकाश नया करो माँ।

शीर्षक छंद में उसकी अभ्यर्थना ही मानो उनके काव्य में प्रस्फुटित हो उठी है :– "उठा ऊब हूं छद्म की माधुरी से"। (वाणी सरोवर) छन्द भी उनकी काव्य सम्पदा के ही प्रकाशक हैं।

हर्ष जी की कल्पना का आदर्श :—

दिखा रूप दो ऐसा कि देख जिसे, फिर कल्पना और न जाये कहीं।
सुना तान दो ऐसी कि मानस को, फिर शून्यता घेर न पाये कहीं।
बसो चेतना में इस भाँति कि भौतिकता न मुझे भटकाये कहीं।
मिले हर्ष ही "हर्ष" के मन्दिर में, यहाँ दृष्टि विषाद न आये कहीं।

तेरी महिमा शीर्षक छन्द में भी उनका समर्पण भाव उनके कवि व्यक्तित्व के ही अनुकूल है :—

कैसी घोर विषम परिस्थिति है घेरे हुए,
उलझ गयी जो ग्रन्थि सुलझ न पाती है।
कण दिखता है मेरु, बिंदु लगता सिंधु,
तुच्छ अणुता भी व्योम गौरव जताती है।
देखकर ऐसी दशा अपनी अचानक ही,
मेरे नाथ ! मेरी मति तेरी ओर जाती है।
क्योंकि महिमा के सिंधु ! मेरे इस जीवन में,
तेरी महिमा ही नित्य मेरे काम आती है।

हरनन्दन हर्षस्य काव्ये वैदग्ध्य माहितम्,
शब्द प्रयोग कौशल्यम् भावानुरूपि शोभते।

राजपथ समध्वर रम्या रीतिः प्रदीपिता,
साफल्य सिद्धि मावीक्ष्य ह्लादितम् मे मनो भृशम् ।
सरस्वती समर्चायाम् यशस्वी भव हर्षद,
कविता ते कमनीया कीर्तिम् चाप्नोतु सर्वतः ।

१/७०, आर्य नगर,
कानपुर – २०८००२

सवैया-घनाक्षरी एवं गीतों के सिद्ध शिल्पी

● आशुकवि पं० जगमोहन नाथ अवस्थी "मोहन"

"व्यवधावपि वा विधोः कलां मृग चूडानिलयां न वेदकः ॥१९॥

—महाकवि "हर्ष"

अर्थात् व्यवधान होने पर भी भगवान के सिर पर रहने वाली चन्द्रकला को कौन नहीं जानता अर्थात् दूरस्थ भी उत्तम वस्तु को सभी जानते हैं। महाकवि हर्ष का उपर्युक्त कथन हिन्दी साहित्य के सिद्ध कवि श्री हर नन्दन वाजपेयी "हर्ष" के लिए पूर्णरूपेण सार्थक है। श्री 'हर्ष' जी का हर छन्द चाहे वह सवैया हो, घनाक्षरी हो अथवा गीत हो अपने ढंग का अनूठा और मौलिक होता है। शब्दों का चयन, शैली, भाषा का प्रवाह इनका अपना है ही। अनुप्रासों एवं अलंकारों के स्वाभाविक श्रृङ्गार से सुशोभित इनकी हर पंक्ति बरबस मन को मोहित कर लेती है। श्री वाजपेयी जी के छन्दों में स्व० "हितैषी" जी की शैली एवं स्व० "निराला" जी के समान नवीन शब्दों का चयन देखने को मिलता है।

विद्वानों और साधकों की पवित्र धरती, रानी कटरा, लखनऊ में १७ सितम्बर १९२० को जन्म ले कर आपने अपने वंश एवं पिता श्री हरदत्त वाजपेयी का नाम उज्जवल करके प्राचीन गरिमा की रक्षा की है।

रिजर्व बैंक के उच्च पदाधिकारी होते हुए भी श्री वाजपेयी जी काव्य की लगन में खोये और सत्साहित्य के सृजन में डूबे रहते हैं। सन् १९४० में काव्यारम्भ करने वाले इस सिद्ध कवि ने आज अपना स्थान हिन्दी के मूर्धन्य सवैया घनाक्षरी एवं गीत लेखकों के बीच ऐसा बना लिया है कि वर्तमान एवं भविष्य इन्हें भुला नहीं सकता।

आजकल आपका ओजपूर्ण, पिंगल शास्त्र से प्रमाणित महाकाव्य "कर्ण" तथा खण्ड काव्य "परशुराम" पूर्ण हो रहा है। सचमुच, यह हिन्दी साहित्य के लिए अनूठी और अनोखी उपलब्धि होगी।

तेजस्वी गौर वर्ण, औसत कद, खल्वाट सर, पान खाये हुए, साधारण धोती कुरते की वेशभूषा में मुसकान बिखेरता हुआ यह अनोखा व्यक्तित्व निराभिमानी हो कर भी स्वाभिमानी है। प्रतिभा के धनी उदार और कलम के ईमानदार श्री "हर्ष" जी "उद्भव" के उन सहृदय लेखकों एवम् कवियों में से हैं जिनसे "उद्भव" गौरवान्वित है।

भगवती भारती के मन्दिर के इस पुजारी ने यद्यपि कम लिखा है, परन्तु जो लिखा है संजोने और पढ़ने योग्य है। ठीक भी है :—

गुरुतां नयन्ति गुणा न संहतिः ॥ १० ॥

—महाकवि भारवि

अर्थात :—गुण गौरव को प्राप्त करता है, समूह नहीं।

राजेन्द्र नगर,
लखनऊ।

□

अभिमत

● डा० प्रेमनारायण शुक्ल

साहित्यकार अपनी वैयक्तिक चेतना के आधार पर समष्टिगत चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। वह मानव हृदय की संवेदन शीलता को अपना लक्ष्य बनाकर अपनी रचना-प्रक्रिया में जब तन्मय हो जाता है तब वह स्व-परभिन्नत्व से पूर्णतः प्रथक हो जाता है। उसका चिन्तन, उसकी कल्पना जीवन सापेक्षता में ही अपना श्रृंगार करती है। वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में कोई अपरिचित अनजान नहीं है। इसी से उसमें जड़ और चेतन की ऐसी नाना रूपावलियां प्राप्त होती हैं जो देशकाल की सीमाओं को लाँघकर अपनी अखण्डता को प्रमाणित करती हैं। कविवर 'हर्ष' जी का काव्य साहित्य इसी कसौटी में अपनी विशुद्धता को व्यक्त करता है। 'कला' शीर्षक रचना में कवि ने अपनी काव्य सम्बन्धी आस्था को बड़ी स्पष्टता के साथ अंकित किया है :—

कला में कला की विधा बोलती हो,
कलाकार के बोलते इंगितों में।
नया ओज दे स्वस्थ जिजीविषा दे,
नये स्रोत दे सर्जना के हितों में।
करे सत्य सी मूर्त जो कल्पना को,
हो नमस्कृत देवाभिनंदितों में।
कला तो उसी को कहा जा सकेगा,
जो सजीवता लाये अजीवितों में।

जीवन की क्षुद्र वासनाओं एवं प्रवृत्तियों से ऊपर उठाकर जो साहित्य मानव-हृदय को औदात्य गुण सम्पन्न बना सके वही तो साहित्य है। ऊपर के छन्द में कवि ने कला का इसी रूप में अभिनन्दन किया है।

श्री हर्ष जी उस पीढ़ी के कवि हैं जो साहित्य की भूमि को एक यज्ञस्थली मानती रही है। यज्ञ-विधान में भावों की पवित्रता पर और उनकी संवेदनशीलता पर विशेष ध्यान रखना अनिवार्य है अन्यथा फिर समस्त याज्ञिक, क्रिया निष्प्राण हो जायेगी। हर्ष जी ने अपनी रचनाओं में भावों की रमणीय व्यंजना के साथ ही साथ सात्विकता की ऐसी प्रभाव कारिणी सृष्टि की है जो पाठक अथवा श्रोता को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। आपकी रचनाएं जीवन को सतत संकेत देती हुई चलती हैं। उनमें तथ्यात्मक रूपों की मनोहारिणी व्यंजना है। कवि अपनी सहजता में ही कुछ ऐसा लिख जाता है जो हारे-थके निराश जीवन के लिए एक सशक्त सम्बल के रूप में जान पड़ता है। साहित्य का मूल है भाव और हृदय की सम्पत्ति भी भाव ही है। साहित्य यदि वह साहित्य की कोटि में आता है तो उसमें जीवनधारा की सिक्तता का होना स्वाभाविक है। कवि भावों के बीच रमता है, उन्हीं की उपासना करता है और कहता है :—

तुम्हें भावों की भूख है, भावों का ही
नवनीत निकाल के लाया हूँ मैं।

काव्य में चित्रमयता एक विशिष्ट गुण माना गया है। वर्ण्य विषय की सफलता भी इसी में है कि वह सहृदयों में अपनी शब्द-तूलिका द्वारा चित्र चित्रित करता हुआ जान पड़े। 'वसंत वर्णन', 'कुरुक्षेत्र की लालिमा', आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं।

कवि ने अपनी भावाभिव्यक्ति में प्रतीकों का आश्रय लेकर उसे न केवल हृदयग्राह्य बनाया है अपितु उदात्त भावों एवं कल्पनाओं की लयकारी सृष्टि भी की है। 'पथ का तरु' शीर्षक रचना इस कथन का प्रमाण है।

कवि अपनी अतीत की थाती लिए हुए अपने वर्तमान में रमता है और भविष्य के निर्माण की योजना बनाता है। इसी रूप में कवि कवि होता है। यह समस्त सृष्टि भी तो उस विराट कवि की रचना

के रूप में है। कवि भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी ससीमता को असीमता के आँचल से बाँधने का प्रयास करता है। यह प्रयास ही उसका भावयज्ञ है। 'हर्ष' जी भी एक ऐसे ही कवि हैं जो अतीत के आदर्श रूपों को दृढ़ता के साथ पकड़े हुए वर्तमान का दर्शन करते हैं और अपने चिन्तन में भविष्य का मनोरम एवं प्रेरक स्वप्न देखते हैं। स्वदेश के प्रति, '१५ अगस्त' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं जो मानव सृजनशीला भावनाओं से युक्त हैं।

भारतीय चिन्तनधारा की एक विशेषता यह है कि उसमें अवम से ऊपर उठकर परम की ओर बढ़ने की स्नेहमयी प्रेरणा है। इसीलिए चिंतन प्रधान कवि की दृष्टि भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर सतत् गतिशील रहती है। कवि, 'हर्ष' की रचनाओं में यही दृष्टि पाई जाती है। 'निराकार', 'जिज्ञासा', 'कवि', 'विवशता दयासिंधु से 'क्षमा चाहता हूँ', 'व्याप्ति' आदि रचनाओं में कवि की आध्यात्मिक चिंतनशीला प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है।

शिल्प की दृष्टि से श्री हर्ष जी को सवैया छन्द बहुत प्रिय है, यद्यपि आपने गीत भी लिखे हैं जो सवैया के समान ही सशक्त हैं। आप की लेखनी का प्रवाह प्रतिपद निरवरोध है। ऊँचे से ऊँचे भाव को बोलचाल की शैली में बड़े सहज रूप में व्यक्त करने की आप में स्पृहणीय क्षमता है। निम्नांकित छन्द देखिए :—

मत्त हुई नव यौवन पा, कलियाँ मुसुकायें न, तो क्या करें ?
पी मधु, ऊपर से छवि की मदिरा, अलि गायें न तो क्या करें।
पंचम छेड़ न क्यों पिक भी अधिकार जतायें न, तो क्या करें ?
कुंजों ने पाये सँवार नये, मकरंद लुटायें न, तो क्या करें ?

कबि 'हर्ष' की रचनाओं में अलंकारवादी और रसवादी दोनों ही श्रेणियों के पाठक को परितोष प्राप्त होता है। आपकी रचनाओं की सर्वाधिक विशेषता है उदात्त तत्व की परिव्याप्ति। साहित्य इसी रूप में मानव का हित कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मङ्गलमय प्रभु से कामना है कि 'हर्ष' जी की रचना धर्मिता सतत् श्रेय का वरण करती रहे।

आर्य नगर, कानपुर—२०८००२

□

दो शब्द

● अमृतलाल नागर

श्री पं० हरनन्दन वाजपेयी 'हर्ष' जी के नव काव्य संकलन को यत्र-तत्र से देखने और पढ़ने का अवसर मिला। भावों में प्रौढ़ता है, चिन्तन गंग सलिल सा निर्मल है, अनुभूतियों में वेदन और आवेदन दोनों ही सहज प्रकट हैं। नये वर्ष के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए हर्ष जी लिखते हैं :—

नये लक्ष्य हैं, चिन्तनों की दिशा भी,
नयी है, नये निर्णय हो रहे हैं।
खड़ा सत्य है मूक बना, अब,
न्याय के भी क्रय-विक्रय हो रहे हैं।
यही आज की एक विशेषता है,
सही तथ्यों में संशय हो रहे हैं।
दयासिन्धु की सृष्टि में देखता हूँ,
कि नये-नये विस्मय हो रहे हैं।

कवि की 'व्याप्ति' रचना भी भक्तिपूर्ण और रुचिर है। गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए हर्ष जी कहते हैं :—

विश्व प्रणम्य बना पुरुषोत्तम
राम को राम बनाया जिन्होंने

पढ़ कर गोस्वामी जी महाराज की उक्ति 'राम ते अधिक राम कर दासा' का स्मरण हो आया। उनकी 'चिथड़े' रचना भी मुझे अच्छी लगी। वाजपेयी जी की भाषा ललित और संस्कृत निष्ठ है। आशा है काव्य रसिक इस पुस्तक को अवश्य सराहेंगे।

चौक,
लखनऊ २६-८-८५

□

अभिमत

● डॉ० लक्ष्मी शंकर मिश्र 'निशंक'

खड़ी बोली में कवित्त-सवैया छन्दों के प्रयोग की दीर्घ कालीन परम्परा है जिसके विकास में पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', पं० रूपनारायण पाण्डेय तथा ठाकुर गोपाल शरण सिंह आदि अनेक कवियों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने गीतों के युग में भी इन छन्दों के प्रयोग को प्रोत्साहन दे कर इसे एक प्रमुख शैली के रूप में विकसित किया। उनके प्रमुख शिष्य पं० जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' एवं श्री 'अनूप शर्मा' ने उन छन्दों को युग के अनुरूप ढाल कर उन्हें विचार वाहक बनाया। इतनी लम्बी यात्रा में इन छन्दों ने हिन्दी की एक सशक्त शैली का रूप ग्रहण कर लिया है। गणात्मकता एवं तुकान्त के बन्धनों को स्वीकार करते हुए भी इन कवियों ने अपने छन्दों में ब्रजभाषा जैसे मार्दव और प्रवाह की सृष्टि की। हितैषी जी सवैया-सम्राट और अनूप जी घनाक्षरी के आचार्य माने जाते हैं।

श्री हरनन्दन वाजपेयी "हर्ष" उसी परम्परा के सशक्त हस्ताक्षर हैं जिनके छन्दों में नूतन शिल्प और समर्थ भाव व्यंजना का विकसित रूप मिलता है। 'हर्ष' जी ने अपनी सधी हुई लेखनी से जिन भावों एवं विचारों की सृष्टि की है वे बड़े कलात्मक एवं सरस हैं। इनके काव्य में छन्द-शिल्प एवं सरस भाव व्यंजना का सफल समन्वय हुआ है। इनकी अनुभूतियां बरबस हृदय को छू लेती हैं। इनकी कविता की रचना मानवीय धरातल पर हुई है, जहाँ हर्ष-शोक, वैभव-दैन्य, मिलन-विरह और आशा-निराशा का गंगा-जमुनी प्रवाह मिलता है, जिससे प्राणों में नया स्पन्दन संचरित होता है। उसमें निराशा के क्षणों में भी आशा का सुखद सन्देश है।

हर्ष जी के छन्द बड़े पुष्ट और गठे हुए हैं। तुकान्त कहीं भी बोझिल या उबाऊ नहीं हैं। भाषा मधुर एवं प्रवाह पूर्ण है। छन्द-शिल्प ने भावों को दीप्ति प्रदान की है, जिससे पाठक को शान्ति का अनुभव होता है। छन्द के अन्तिम चरण में भाव की परि समाप्ति बड़ी प्रभावोत्पादक है।

इस सरस रचना के लिए 'हर्ष' जी को बधाई देते हुए मैं यही कामना करता हूँ कि उनकी साधना अग्रसर होती रहे और काव्य-पिपासुओं की आध्यात्मिक तृषा शान्त होती रहे।

लखनऊ
२७-८-१९८५

□

समीक्षा

● श्री नरेश चन्द्र चतुर्वेदी

पं० हरनन्दन वाजपेयी "हर्ष" हिन्दी के उन समर्थ कवियों में है जिन्हें सवैया छंद प्रिय भी है और सिद्ध भी है। यद्यपि उन्होंने गीतों तथा अन्य छन्दों में भी पर्याप्त लिखा है और अच्छा लिखा है किन्तु जो कौशल उनके सवैयों में दिखाई पड़ता है वह उनके व्यक्तित्व का महत्तम रूप है।

सवैया छंद प्रचीन है इस लिए उसका विषय भी पुराना हो यह जरूरी नहीं। एक समय था जब सवैया को ब्रजभाषा के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था परन्तु आधुनिक हिन्दी के अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने सवैया को न केवल ब्रजभाषा की परिधि से अलग करके खड़ी बोली के महत्वपूर्ण छंद के रूप में ढाल दिया प्रत्युत विषय वस्तु को नवीनता का माध्यम बनाकर उक्त दिशा में चार चांद लगा दिये। सफलता के इस दौर के लिये श्री सनेही, हितैषी, रूपनारायण पाण्डेय, दिनकर, श्याम-बिहारी शर्मा, तरल, करुणेश इत्यादि कई नामों को उद्धृत किया जा सकता है जिनके सवैयों में भाषा एवं विषय की ऊंची उड़ान देखी जा सकती है।

श्री हर्ष जी भी इसी परम्परा और प्रतिभा के कवि हैं। सवैया छन्द को अपने ही रंग और ढंग से उन्होंने सजाया संवारा है। कथ्य की नवीनता इनमें भरपूर है। काव्य में भी लोक कल्याण की भावना उनकी कसौटी है। बन्दना के स्वरों में भी उनकी यह छवि देखी जा सकती है। एक छंद देखें—

जो जग के प्रति प्राणी के प्राणों को,
दीप्त करे, उस प्राणी का वंदन ।
प्राप्त करा जय भवी पे दे यदि,
तो कर लूं उस ज्ञानी का वंदन ।

जो समझा सके जीवन दर्शन,
है उस शोध प्रमाणी का वंदन ।
देती है जो वर हंस–विवेक–
–मयी प्रतिभा, उस वाणी का वंदन ।

वाजपेयी जी के छन्दों में ईश्वर के प्रति प्रणति का भाव प्रमुख रूप से आया है। प्रकृति, जीवन और ईश्वर का प्रगाढ़ चिन्तन इनके छन्दों में सर्वत्र व्याप्त है। इनमें आदि काल से विचारवान की जिज्ञासुता का भी स्वर प्रमुख है और उसे जान लेने की बेचैनी भी।

इन सबके रहते हुए भी हर्ष जी के छन्दों में वास्तविकता की झांकी स्पष्ट रूप से अंकित हुई है। एक उदाहरण देखें—

नये लक्ष्य हैं, चिन्तनों की दिशा भी
नयी है, नये निर्णय हो रहे हैं ।
खड़ा सत्य है मूक बना, अब,
न्याय के भी क्रय विक्रय हो रहे हैं ।
यही आज की एक विशेषता है,
सही तथ्यों में संशय हो रहे हैं ।
दयासिंधु की सृष्टि में देखता हूं,
कि नये नये विस्मय हो रहे हैं ।

इनके छन्दों में विषाद की गहरी रेखाएं भी बड़े मार्मिक ढंग से अंकित हुई हैं चिथड़े, दुनिया इत्यादि शीर्षक छंद इसके उदाहरण हैं। गर्वोक्ति कवियों का प्रिय विषय रहा है और हर्ष जी की गर्वोक्तियां सामान्य नहीं हैं। उनमें सृजन एवं शक्ति के साथ आत्मगर्व की चेतना बड़े पौरुष के साथ व्यक्त हुई है : उदाहरण स्वरूप एक छन्द प्रस्तुत है :—

जहाँ आंधियाँ शैलों को ढा रही थीं,
हमने वहाँ सींके खड़ी कर दीं ।
महाकाल भी चौंक पड़े, सहसा,
हमने जो निगाहें कड़ी कर दीं ।
हमीं ने सही मोड़ दिये युगों को,
बिगड़ी घड़ियाँ सुघड़ी कर दीं ।

हमीं शक्ति हैं स्वायंभुवी, हमीं ने,
भगवान की बाहें बड़ी कर दीं ॥

मानव और सर्जक के रूप में व्यक्त उपयुक्त भावना अपनी विशेषता लिये बिशेषता के साथ स्पष्ट है। भगवान की महत्ता को भी मानवीय चेतना और शक्ति से जोड़कर कवि ने एक नयी दृष्टि देने का प्रयत्न किया है।

एक सर्व शक्तिमान नियति के चक्र को किस तरह से घुमाता चल रहा है, उसके अस्तित्व को स्वीकारते हुए भी उसके जानने की प्रबल उत्कंठा विद्यमान है।

अभाव और दैन्य की चर्चा भी वाजपेयी जी के छन्दों में कम नहीं है परन्तु उसके प्रति एक तटस्थ विश्लेषक का भाव ही मुखर हुआ है उसमें पराजय बोध कहीं नहीं है। निराशा और असन्तोष की स्थिति में भी विद्रोह का ही स्वर झंकृत हुआ है। पुराने विषयों की पर्याप्त भाव भूमि होते हुए भी हर्ष जी ने अपने निभ्रान्त चिन्तन को अपने छंदों में सफलता पूर्वक उतारा है। कहीं कोई नई सूझ, कहीं कोई नवीन विचार एवं विश्वास और कहीं शैली का नयापन देकर परम्परागत कथ्य को एक नई वक्तृता प्रदान की।

ईश्वर की निराकारिता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

निराकार हैं वे मुझे तो लगता,
यह कल्पना ही निराधार सी है।
मैं तन पिंजर के घर में,
उनका घर जानना चाहता हूँ।

इत्यादि छन्दों में सगुन के प्रति अपनी निष्ठा और जीव तथा ब्रह्म के रिश्ते की पहचान की छटपटाहट ही देखने को मिलती है।

हर्ष जी के गीतों में चिन्तन का प्रवाह भी वही है जो उनके छंदों में देखने को मिलता है। इनके क्रान्ति के शोले नहीं, चिन्तन की प्रौढता

कृतित्व की विशेषता के रूप में सर्वत्र छिटकी हुई है। एक गंभीर कवि की छाप इनमें स्पष्ट है।

इह लोक की नश्वरता और जीवन की निराशा से आशा की ओर सत्यत आस्था कवि का प्रमुख विषय रहा है। इस संग्रह में एक बहुत सुन्दर रचना चिथड़े शीर्षक भी है जिसके १३ छंदों में कवि ने मानव जीवन के उत्थान और पतन का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है और अध्यात्म की भाव भूमि से जोड़कर कुछ कहने की चेष्टा की है। इस व्याज से कवि ने दुर्बल के प्रति कुछ कह दिया है। उदाहरण के लिये प्रथम छंद ही देखें :—

इन्हीं विश्व के मिथ्या प्रलोभनों ने,
जब दूर ही से भरमाया मुझे।
सुखों के छली चितनों ने निशा में,
बन के जब स्वप्न रुलाया मुझे।
स्वरों में भरे व्यंग के वैभव ने,
हंस के जब है तड़पाया मुझे।
तभी अर्थ सा खोल के जीवन का,
चिथड़ों ने यथार्थ बताया मुझे।।

और अंतिम छंद में :—

बिका न्याय तो शक्ति के हाथों हुआ,
धिक शक्ति विहीन का कोई नहीं है।
कहा सत्य ने कुण्ठा भरे स्वरों में,
कि यहाँ पराधीन का कोई नहीं है।
अरे नीति हो या हो अनीत, ये
रीति है, साधन हीन का कोई नहीं है।
नहीं जानता राम – रहीम की हूँ,
पर विश्व में दीन का कोई नहीं है।।

इस संग्रह में प्रकाश से व्यवस्था, दुनिया, गर्वोक्ति, प्रतिध्वनि, मृत्यु, उद्‌बोधन, व्याप्ति, सिंधु के प्रति, विश्वास, व्यंग्य इत्यादि शीर्षक

छंदों में नई भूमि और भावना से मन मुग्ध हो जाता है। इस संग्रह के सभी छंद उत्तम व हृदय पर छाप छोड़ने वाले हैं। हर्ष जी का यह प्रथम संग्रह है और प्रौढ़ तथा गरिमामयी रचनाओं से भरपूर है।

श्रेष्ठ छन्दों का यह संकलन अपनी अनेक विशेषताओं के कारण सुधी एवं रसिक पाठक को न केवल मनोरंजन देगा प्रत्युत बिचार सागर में डुबा सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है। वाजपेयी जी का संग्रह बहुत पहले आ जाना चाहिये था, परंतु देर से आ रहा है लेकिन इसकी एक विशेषता तो सिद्ध है कि समय के बीतने के बावजूद भी उसमें ताजापन बरकरार है। मैं समझता हूँ कि कविता की श्रेष्ठता की कसौटी काल से अधिक और कोई नहीं है और वाजपेयी जी की रचनाएँ काल के समक्ष मुस्कराती हुई देख पड़ती हैं, इसलिये मैं इनका और भी स्वागत करता हूँ।

अशोक नगर, कानपुर
२१-१-८७

आस्था में आस्था

● पं० बद्री नारायण तिवारी

समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ व्यक्ति थोप कर बड़े बनाये जाते हैं किन्तु कुछ अपनी विशिष्टताओं के कारण अपने क्षेत्र में महान व्यक्ति की मान्यता सहज ही पा लेते हैं। साहित्य का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है: यह विडम्बना ही है कि जिनमें मौलिक सृजनता होती है उनकी रचनाएँ पृष्ठों पर ही अंकित पड़ी रह जाती हैं और पत्र-पत्रिकाओं में दूसरे ही स्थान घेर लेते हैं। यही वस्तुतः कड़ुवा सत्य है और ऐसे ही कड़वे घूँट अब तक न जाने कितनों को पीना पड़ा है। इसी संदर्भ में मुझे एक घटना का स्मरण हो आया जब राष्ट्रकवि पद्मश्री सोहनलाल द्विवेदी का स्थानीय इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन भवन में "कला वलय" द्वारा अभिनन्दन लगभग २५ वर्ष पूर्व हुआ था। मंच पर अनेक साहित्य मनीषी विराजमान थे और जब राष्ट्रकवि द्विवेदी जी ने बगल में विराजमान हिन्दी के भीष्मपितामह पद्मभूषण पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के चरण स्पर्श करते हुए अपनी ओजस्वी वाणी में कहा कि वास्तव में अभिनन्दन तो इनका (चतुर्वेदी जी की ओर संकेत करते हुए) होना चाहिए जिनकी कृपा से मेरी लिखी रचनाओं का प्रकाशन हुआ और आज इस रूप में मैं पहचाना जा सका। हमारे जैसे अनगिनत अज्ञात रचनाकारों को आपने प्रकाश में ला कर स्थापित किया। महाकवि निराला जी अपनी एक कृति श्री चतुर्वेदी जी को समर्पित कर गौरवान्वित हुए थे।

हम एक ऐसे रचनाकार का परिचय करवा रहे हैं जिन्होंने सनेही युग से अब तक रचना धर्मिता और काव्य साधना का समर्पण भावना से पालन किया है उनकी रचनाओं का सकलन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है मूर्धन्य साहित्यकार डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल ने चर्चा करते हुए मुझे बताया। मुझे आश्चर्य लगा! हाँ! एक लघु परिचयात्मक सुकवि

'हर्ष अभिनन्दन-ग्रंथ' का प्रकाशन सुपरिचित कवि श्री गिरिजाशंकर लाल सक्सेना 'स्वतंत्र' के सम्पादन एवं श्री देव कुमार 'देव' के प्रबन्ध सम्पादन में साहित्य सेवी कविवर श्री विकास वाजपेयी की प्रेरणा से चार वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था – बधाई के पात्र हैं।

स्वनाम धन्य सिद्ध कवि श्री हरनन्दन वाजपेयी 'हर्ष' को साहित्यकारों एवं रचनाकारों के शब्दों में ही मैं अपनी भावाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ। उन साहित्य मनीषियों के लिखने के बाद मुझे कुछ भी कहना शेष रह ही नहीं गया जिस पर 'हर्ष' जी पर लिखा जा सके।

हिन्दी में अनेक विधाओं के उत्पन्न होने से एक ओर जहाँ प्रगति हो रही है वहीं कुछ पुरानी काव्य विधायें छन्द-सवैया, घनाक्षरी तथा दोहे विलुप्त होने से हानि भी हो रही है। नवीन-प्राचीन दोनों विधाओं का समन्वय होने से साहित्य सृजन की धारा अबाध गति से चलती रहेगी।

पत्रकार प्रवर श्री गुरुप्रसाद रस्तोगी का यह कथन कि सनेही युगीन स्थानीय काव्य गोष्ठियों में हर्ष जी की उपस्थिति अनिवार्यता का वाचक रही है। उनकी काव्य साधना एक निष्ठावान और प्रज्ञा समर्पित कवि की अर्हणा है। काव्य साधना की इस दीर्घ निरन्तरता के उपरान्त भी उनकी काव्य रचनाओं का प्रकाशन न होना निश्चय ही चिन्तनीय स्थिति का परिचायक है!

महाकवि चिन्तामणि, मतिराम और भूषण के काल से ही घनाक्षरी और सवैया छन्द कानपुर की काव्य धारा की अप्रतिहत विधा रही है। ऋतत्यतः सवैया और घनाक्षरी हिन्दी के अपने छन्द है जब कि काव्यगत अन्य सभी छन्द हिन्दी में अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं से हो कर आये हैं। सशक्त भावाभिव्यंजना, रस प्रवणता और कला सौष्ठव की जो शक्ति इन छन्दों को यहां उपलब्ध हुई वह निश्चय ही कानपुर के कवि मनीषियों को दिशिविभा प्रदायिनी है।

श्री हर्ष जी की काव्य रचना का क्षेत्र विशाल है। उनके काव्य विषयों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उनकी काव्य मेधा ने ऐहिक से

पारलौकिक तक, तथा दृष्ट पदार्थों से लेकर अदृष्ट पदार्थों तक अनेकानेक विषयों का अवलोकन किया है उनके काव्य में सरसता है किन्तु कहीं-कहीं अत्यधिक क्लिष्टता भी है। 'महारथी कर्ण' नामक अप्रकाशित काव्य ग्रंथ में कर्ण के शौर्य का प्रसंग वीर रस के स्थान पर रसाभास से अद्‌भुत रस के निकट जान पड़ता है। सर्प के लिये 'दंत शूक' सूर्य के लिये 'हन्स' और कृष्ण के लिये 'वैनतेय स्यन्दन' जैसे अप्रचिलित शब्दों के अभिनव प्रयोग भी किये हैं। इस कृति में संकलित रचनाओं में कवि के 'विश्वास', 'प्रतिध्वनि', 'पथ का तरु', 'मनुष्यता', 'चिथड़ा', 'प्रकाश' आदि विषयक रचनाओं में जो भाव प्रवणता है, वह सहज ही मन को स्पर्श करने वाली है। कवि के छन्दों में अधिक माधुर्य है। अलंकारों और कहावतों का सहज प्रयोग हुआ है कवि में उर्वरा कल्पना शक्ति है, उसके भाव और कला दोनों ही पक्ष पुष्ट हैं।

यह कहना अनुकीर्तन न होगा कि 'हर्ष' जी की काव्य साधना अनुप्रमेय है और यह आशा करना निश्चय ही समीचीन होगा कि अपने कृतित्व से वे कानपुर के साहित्य गौरव की अभिवृद्धि करने वाले एक प्रकीर्णक सिद्ध होंगे।

साहित्य मनीषी कविवर श्री विकास वाजपेयी ने हर्ष जी के विषय में कहा है कि उनकी लेखनी में जीवन है, जागृति है, रवानी है। आपका छन्द, सवैया, घनाक्षरी, दोहा और गीत सभी पर समान अधिकार है। आप आध्यात्मिक, ऐतिहासिक तथा राष्ट्रीय चरित्र-चित्रण इत्यादि विषयों का निर्वाह बड़ी सफलता के साथ करते हैं। अनेक झंझावातों में हर्ष जी ने अपनी जीवन नौका को एक कुशल नाविक की भाँति चलाया है। वर्तमान संक्रान्ति कालीन विश्व क्षितिज पर सर्वाधिक कमी ऐसी लयात्मिकता और लालित्य प्रवण भावाभिव्यंजनाओं की होती जा रही है।

श्री हर्ष जी अपनी सजग, सचेष्ट, सृजनात्मक प्रतिभा से इस कमी की पूर्ति में सतत् संघर्षरत हैं उन्होंने जो भी किया है वह महनीयता का दिशा संकेतक है। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा उन्हें अमरत्व प्रदान करेगी। यह भाव श्री रुद्रनाथ पाण्डेय ने हर्ष जी के प्रति व्यक्त किये हैं।

...क हस्ताक्षर की रचनाओं का संकलन ... अभी तक अपने क्षेत्र के ऐसे ... प्रकाशित न हो सका।

कवियों ने हर्ष जी को प्रस्तुत पंक्तियों में रेखांकित किया है—

भाव से भारती अंग संवारती,
भाषा अनन्य के भाष्य का चन्दन।
सूक्ति सुधा ही दिशा चतुरानन,
तानन तानन में यदुनन्दन।
गुम्फित काव्य-कला-महाबाहु से,
लेता उबार जो कर्ण का स्यन्दन।

—रामजी दास कपूर

कल्पना लोक विहारी बनो,
करके सदा शारदा के पद–वन्दन।

—अभिराम शर्मा

यूँ ही सदा कविता का सुधारस।
पान कराते रहो हरनन्दन॥

—करुणेश शुक्ल

लेखक शुद्ध सवैया के त्योंही,
घनाक्षरी के शुभ सर्जक न्यारे।
गीत प्रगीत परम्परा के धनी,
काव्य कला कृति दिव्य सँवारे।

—प्रभात शुक्ल

...रि विलोचनों में लिये अर्घ्य को,
...क्षत शब्द के चाव का चन्दन।
...व की धूप है शान्ति की आरती,

हे दया धाम ! हे बुद्धिदा नन्दन ॥
अञ्जलि प्रेम प्रसून की अर्पित, है,
पदों में किये दूर कुफन्दन ।
कोटिश: कण्ठ से कोटिश: छन्द से,
श्रीयुत 'हर्ष' है आपका वन्दन ॥

—अम्बिकेश शुक्ल

सिद्ध सवैया के सर्जक आप हैं,
आप महाकवि, भाल के चन्दन ।
सज्जनता की समर्पित मूर्ति, हे!
विद्वता के ओ महोदधि वन्दन ।
साधना में रत जीवन आपका,
आप बढ़ा रहे ज्ञान का स्यन्दन ।

—कुमुदेश बाजपेई

शब्दों के शिल्पी सुघड़, काव्य जगत में हर्ष ।
अक्षर जीवन ब्रह्म से, ठाने चिर संघर्ष ।
ठाने चिर संघर्ष, कहीं जीते ना हारे ।
मित्रों के हैं मित्र बड़े हरनन्दन प्यारे ।
सुकवि 'देव' सौमित्र, रहें प्रतिपल अब्दों के ।
अभिनन्दन प्रतिवर्ष करें शिल्पी शब्दों के ।

● सुकवि 'देव'

जुड़े पिंगल बद्ध प्रथागत उन्नत,
छन्द परम्परा विद्ध सुछन्दक ।
कहता भला कौन है आते नहीं,
यह गीतक मध्य समृद्ध सुछन्दक ।

● वीरेश कात्यायन

करों में लिए हुए लेखनी भारती भाल चढ़ा रहे चन्दन ।
की कटुता मृदुता को भुला के करें सभी का अभिवन्दन ॥
क्लेश, अमर्ष नहीं सदा कर्ण की भावना का अभिव्यंजन ।
रे हुए लोचनों में सभी का [illegible]

कामना एक यही मन में 'जय',
फूले–फले 'यश-नन्दन' आपका ।
काव्य को नव्य प्रतीक दिये, तब,
क्यों न करें हम वन्दन आपका ।

● जयराम सिंह 'जय'

वर्ण वर्ण में सुवर्ण सुन्दर सवैयों मध्य,
काव्य गगनाँगन के बिमल पताके हो ।
राम में रमे हो या कि तुममें रमे हैं राम,
ऐसे अभिराम 'हर्ष' दिव्य प्रतिभा के हो ।।

● गिरजा शंकर लाल सक्सेना 'स्वतंत्र'

कवयित्री बिद्या सक्सेना की रचना के प्रारम्भिक अक्षर श्री हरनन्दन वाजपेई हर्ष यानी पूर्ण नाम की कविता में उनका पूर्ण कृतित्व-व्यक्तित्व समाहित है :—

श्री दादा जी पूज्यनीय हैं, वरद-हस्त सिर पर धरते,
हर प्रकार से योग्य गुणी हैं, सब इनका आदर करते ।
रहते हैं साहित्य सृजन में लीन समर्पित है जीवन,
नन्द बबा के कृष्ण कन्हैया में उलझा रहता है मन ।
नहीं किसी से वैर भाव है सौम्य सरल भावुक प्राणी,
बाहर भीतर एक रूप है जैसे गंगा का पानी ।
जग में रह निर्लिप्त रहे ये सबको सरल उदार मिले,
पेय नहीं है इन्हें सुधा भी बिन आदर सत्कार मिले ।
ईश्वर के प्रति रही आस्था जग में मोह विहीन रहे,
हर्ष बांटते रहे सभी में स्वयं अकिंचन दीन रहे ।

हिन्दी के समर्थ सवैयाकार श्री श्री हरनन्द बाजपेयी 'हर्ष' के प्रति अनेक साहित्यकारों-रचनाकारों ने जो भी गद्य–पद्य में भाव व्यक्त किये उन्हीं के शब्दों की भावनाओं में मैंने अपने को आत्मसात कर लिया है ।

डॉ० प्रतीक मिश्र की बहुचर्चित कृति कानपुर के कवि में हर्ष जी को "कर्ण" महाकाव्य (अप्रकाशित) की चर्चा है। डॉ० प्रतीक ने हर्ष जी की एक रचना को उसमें प्रकाशित भी किया है जिसकी कुछ पंक्तियों से उनकी शैली का अनुभव करेंगे :—

मेरे प्रश्नों के उत्तर में तेरा मौन अखर जाता है।
जिज्ञासाओं की झंझा में मन द्वन्दों से भर जाता है।।

× × × ×

जीवन पर मरणा वरणों के, प्रति अथ पर इति के चरणों के,
व्यंग्यों का परिहास निरन्तर, खटक रहा 'मैं'-'तुम' का अन्तर,
यह अन्तर–प्रत्यन्तर कैसे, इनमें भी सूक्ष्मान्तर कैसे ?
मैं तो अंश तुम्हारा अंशी, श्वास–श्वास पर तेरी वंशी,
मेरी हृदतंत्री पर बजते–बजते गीत संवर जाता है।

× × × ×

कैसे–कैसे रूप सजाता, कैसे–कैसे रास रचाता,
माटी के घट मुखरित होते, प्राय: दिखे चमत्कृत होते।
हैं जग में कितने आकर्षण, जीवन में कितने संघर्षण,
पर इन सबका अभिप्राय क्या? इस भव के भय का उपाय क्या?
कर्ता–धर्ता दृष्टि न आता, आराधा पत्थर जाता है।

हर्ष जी की काव्य गंगा की गहराइयों में व्यक्ति डूबकर बार–बार गोता लगाता रहता है।

साहित्यिक संस्था 'विकासिका' के संयोजक श्री विनोद त्रिपाठी उत्साही रचनाकर्मी एवम् 'भारत भारती' के निष्काम सेवक श्री पुत्तू लाल गुप्त, श्री हर नारायण तिवारी ने अपने सीमित साधनों से इस कृति को प्रकाशित करवा कर हिन्दी साहित्य की विलुप्त हो रही काव्य-धारा को गति प्रदान की है। बधाई के पात्र हैं। इनसे अन्य संस्थायें भी प्रेरणा प्राप्त करेंगी।

इस प्रकार की निस्पृह सेवा करने हेतु कविवर श्री राधेश्याम

'प्रगल्भ' का जीवन के प्रति दृष्टिकोण कितना स्पष्ट है जो इस कृ
रचयिता तथा प्रकाशक दोनों के प्रति सटीक भी है :—

स्वार्थ के लिए वन्दगी, नमन,
आराधन है गन्दगी दोस्त ।
तुम अगर किसी के लिए,
कभी कुछ करो, या कि फिर मरो ।

यही है जिन्दगी दोस्त !

'आस्था' कृति अपने नाम को सार्थक करती है । वर्तमान परिपेक्ष्य में इसका अपना महत्व है । आधुनिकता की अंधी दौड़ में प्राचीनता की 'आस्था' ज्योति का प्रकाश लिए हुए यह कृति सिद्ध मानव मूल्यों की स्थापना करेगी । ऐसी मेरी धारणा है । निर्णय सुविज्ञ पाठक गणों पर निर्भर है ।

बुद्ध पूर्णिमा, संम्वत् २०४७
तिथि ९ मई १९९०
मानस संगम,
महा० प्रयाग नारायण मन्दिर
(शिवाला) कानपुर–१

□

प्रकाशक की ओर से

• विनोद त्रिपाठी
संयोजक एवं महामंत्री, विकासिका

' शब्द का साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में बहुत महत्व है,
णेश वन्दना से प्रारम्भ होकर शारदा वंदन, वाणी सरोवर,
आशा, गर्वोक्ति, विश्वास, भाग्य तथा निराकार जैसे
योगिता सिद्ध करते हुये पं० हरनन्दन वाजपेयी हर्ष जी
की सार्थकता 'आस्था' में व्यक्त की। श्री हर्ष जी छन्द,
ी के सिद्धहस्त कलमकार हैं। कानपुर की साहित्यिक
गरिमामयी रचनाकारों से जानी जाती है उनमें
ा भी नाम गर्व के साथ लिया जाता है। नगर की
ा 'हिन्दी साहित्य मंडल' के आप अध्यक्ष रहे। छन्द
स्ताक्षरों को प्रोत्साहित करने का महत्वपूर्ण कार्य
।

ामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था का
था' के प्रकाशन का सुअवसर उसे प्राप्त हुआ।
कवियों ने अपनी कृतियों का प्रकाशन कराया
प्रकाशन व्यवसायिक प्रकाशकों के द्वारा हुआ,
क संस्थाओं द्वारा या साहित्यनिष्ठों का है अतः
स कृति का प्रकाशन करते हुये आशा है कि ऐसे
यक संस्थायें अपनी महती भूमिका का निर्वाह

ीय डा० मुन्शी राम शर्मा 'सोम' एवं अमृत
प्राप्त हुआ। श्री शिव वर्मा जी ने आमुख
'निशंक', डा० प्रेम नारायण शुक्ल, श्रीयुत
आशुकवि पं० जगमोहन नाथ अवस्थी

'मोहन' ने अपने अभिमत, समीक्षा एवम् कृतिकार का परिचय सम्बन्धी लेख दे करके संस्था को गौरवान्वित किया। इसी क्रम में कानपुर साहित्य जगत के प्राण तथा सभी सामाजिक कार्यक्रमों में अग्रणी भूमिका निभाने वाले पं० बद्री नारायण तिवारी ने आस्था में आस्था शीर्षक लेख प्रदान किया तथा आप इस प्रकाशन के प्रमुख रूप से प्रेरणा श्रोत हैं। उनके उल्लेख के बिना यह लेख अधूरा ही है। विकासिका उपर्युक्त सभी सम्मानित साहित्यकारों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती है तथा शिवॉय प्रिण्टर्स के प्रबन्धक श्री सुधाकर पाण्डेय एवं कर्मचारियों को पुस्तक के मुद्रण कार्य को समय से पूर्ण करने के लिए धन्यवाद देती है।

सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था
आचार्य निकेतन, आचार्य नगर, कानपुर-३

□

अपनी बात

अशोक 'महाकाव्य' के रचयिता साहित्य महारथी स्व० बाबू राम शंकर जी गुप्त 'कमलेश' ने अशोक में 'अपनी बात' शीर्षक लघु लेख में 'अपने मुँह अपनी बात' बड़े ही सुन्दर, सारगर्भित तथा स्पष्ट शब्दों में कहा है। परन्तु मैं अपनी बात क्या कहूँ, क्या लिखूँ, समझ में नहीं आता, मेरी बात ही क्या ? किन्तु बात न होने पर भी बात बनती नहीं अत: परम्परा निर्वाह हेतु बात से कुछ बात तो निकालनी ही होगी।

साहित्य के मान्य आचार्यों के अनुसार, मेरी भी यह मान्यता है कि सिखलाने मात्र से किसी के लिए कवि हो पाना संभव नहीं अपितु सत्य यह है कि कवि तो दैवी कृपा से जन्मजात ही होता है, हाँ अन्तर्निहित काव्य बीज को अंकुरित, पल्लवित और निखारने का कार्य समादृत काव्याचार्यों द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसमें सांसारिक अनुभव तथा स्वाध्याय सहायक सिद्ध होते हैं, किन्तु बिना किसी योग्य गुरु के आश्रय के कोई भी न सफल कवि हुआ है न होगा, ऐसा मेरा अटल विश्वास है।

अपने जन्म स्थान लखनऊ में ११-१२ वर्ष की आयु में अपने दादा जी के साथ मैं प्रसिद्ध कथावाचक श्री शैलेन्द्र जी वाजपेयी से यदा-कदा महाभारत की कथा सुनने जाया करता था। साहित्यिक शैली में उनकी व्याख्या ने मुझे अत्यधिक आकर्षित किया था। उन्हीं दिनों मैंने सरस्वती पुत्र स्व० निराला जी की अध्यक्षता में सम्पन्न कई कवि सम्मेलनों में जाकर कविताऐं भी सुनीं। सम्भवत: यहीं से मेरे भीतर कविता का अंकुर उगा। लगभग सन् १९३९ में मैं ज्येष्ठ भ्राता तुल्य स्वनाम धन्य श्री पं० गौरीशंकर जी त्रिपाठी 'पीयूष' के सम्पर्क में आया। कुछ ही दिनों में हम दोनों घनिष्ठ मित्र हो गये। "पीयूष" जी संस्कृत के अच्छे विद्वान, हिन्दी के बड़े अच्छे कवि, साहित्यिक तथा श्रेष्ठ भाषा से समृद्ध हैं। आपकी मुझ पर वही दया और ममता आज भी है जो ५० वर्ष पूर्व थी। आपके सानिध्य से मेरी रुचि दिन प्रतिदिन कविता की

आयु बढ़ती गयी। आपने ही मुझे श्रद्धेय गुरुवर श्री पं० रूपनारायण जी पाण्डेय लखनऊ तथा काव्याचार्य श्री पं० श्याम बिहारी जी शर्मा "बिहारी" कानपुर से मिलाया, दोनों ही मेरे गुरु, श्रद्धेय, परम हितैषी तथा शुभ चिन्तक थे। मेरा "हर्ष" उपनाम श्री पाण्डेय जी का ही दिया हुआ है, इसके अतिरिक्त लखनऊ "विद्या मन्दिर" के संस्थापक श्री प्रेमनारायण जी टण्डन, जो विद्यार्थी जीवन में मेरे स्कूल तथा घर के भी शिक्षक थे, ने भी मेरे कवि को जगाने में बड़ी सहायता की थी। आपने अन्त्याक्षरियों के माध्यम से मेरी झिझक समाप्त कर **दी** थी, मेरे छन्दों को सुनकर मुझे बहुत प्रोत्साहन देते थे। आपके असामयिक निधन से मुझे अत्यधिक दुःख हुआ, पर विवश था। आप स्नेहवश मुझे फिलास्फर कहा करते थे।

सन् १९४८ में रानी कटरा लखनऊ में श्री "पीयूष" जी, उनके सुपुत्र चि० सारङ्ग तथा अन्य कई सम्भ्रांत व्यक्तियों के प्रयास से "शतदल" संस्था की स्थापना हुई। गुरुवर पाण्डेय जी संस्था के अध्यक्ष थे। मैं उस समय कानपुर रिजर्व बैंक में कार्यरत हो चुका था अतः रविवार को लखनऊ जाने पर शतदल की बैठकों में जाता और स्वरचित छन्द सुनाता था। इसके पूर्व लगभग सन १९४० में लखनऊ गिरधारी सिंह हाई स्कूल में एक कवि सम्मेलन पं० बालकृष्ण जी पाण्डेय (प्राचार्य के० के० कालेज) की अध्यक्षता में हुआ जिसमें प्रसिद्ध आशुकवि श्री पं० जगमोहन नाथ अवस्थी "मोहन" के काव्य पाठ तथा आशु कविता में समस्या-पूर्तियाँ सुनकर मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उनका भव्य रूप, काव्य पाठ का ढंग और निर्भीकता जैसे मुझ पर छा गयी थी। उनसे सम्पर्क तो सन् १९७३ में कानपुर में एक कवि सम्मेलन में हुआ जिसमें मेरे छन्दों की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। यह कवि सम्मेलन श्री गिरजाशंकर सक्सेना 'स्वतंत्र' ने आयोजित किया था और अवस्थी जी को सभापतित्व का भार दिया था। अपने मासिक पत्र "उद्भव" में अवस्थी जी मेरे छंद मुख पृष्ठ पर सदैव ही प्रकाशित करते रहे।

सन् १९४४ में मैं कानपुर आ गया था, मार्च १९४७ में मेरी नियुक्ति कानपुर रिजर्व बैंक में हो गई। सन् १९४९ में प्रिय भाई श्री पं० कृष्ण

बिहारी शुक्ल "प्रभात" तथा १९५१ में ज्येष्ठ भ्राता तुल्य श्री पं० गंगा-प्रसाद जी वाजपेयी "विकास" के घने सम्पर्क में आया, मुझे मञ्च पर लाने का श्रेय श्री "पीयूष" जी, विकास जी तथा प्रभात जी को ही है। मैं इनका हृदय से आदर करता हूँ, स्व० श्री राजाराम त्रिवेदी 'प्रकाश' और कमलेश जी के बाद वर्तमान में सवैया, घनाक्षरी का ऐसा सुन्दर और सस्वर पाठ प्रभात जी के अतिरिक्त कानपुर में किसी से भी सुनने को नहीं मिलता।

इस प्रकार काव्य क्षेत्र में मेरा प्रवेश हुआ और स्थान भी बना। मेरे काव्य गुरु तो श्री श्याम बिहारी जी शर्मा "बिहारी" ही थे, किन्तु प्रातः स्मरणीय श्री पं० रूपनारायण जी पाण्डेय, श्री सनेही जी, पूज्य श्री हितैषी जी से मुझे प्रोत्साहन अत्यधिक मिला। श्री देहाती जी, श्री अवधेश जी, श्री करुणेश जी, प्रणयेश जी, अभिराम जी, हृदयेश जी कमलेश जी, तरल जी, 'हरिजू', रामकृष्ण जी त्रिवेदी, श्याम सुन्दर जी त्रिपाठी, सुरेश जी, राम कुमार जी मिश्र (दौलत गंज वाले), राम कृष्ण जी तैलंग, साहित्याचार्य ब्रह्ममूर्ति जी, प्रवीण जी दीक्षित तथा लखनऊ के श्री निशंक जी से बहुत ही स्नेह तथा प्रोत्साहन मिला। इन सबके प्रति मेरे मन में अत्यधिक आदर है और रहेगा। गीतकार होते हुए भी डा० उपेन्द्र जी तथा श्रीराम स्वरूप गुप्त 'सिन्दूर' ने मुझे बहुत अधिक स्नेह दिया और सराहा है। इसके अतिरक्त स्व० श्री बाबू किशोर चन्द जी कपूर को मैं कभी न भूल सकूँगा, आप ऐसे ही थे। भूतपूर्व विश्वमित्र के संपादक श्री देवदत्त जी मिश्र तथा दैनिक प्रताप के संपादक पं० गौरी शंकर जी त्रिवेदी के स्नेह तथा प्रोत्साहन का बड़ा आभारी हूँ।

अपने से छोटों में मैं श्री अम्बिका प्रसाद शुक्ल "अम्बिकेश" का बहुत आदर करता हूँ। इनसे मेरी भेंट लगभग सन् १९५३ में हुई थी जो शीघ्र ही घनिष्टता में परिवर्तित हो गयी, मेरी समझ में पिंगल, अलंकार शास्त्र में इनका जैसा गम्भीर ज्ञान इस समय सम्भवत. कानपुर में किसी को नहीं है। काव्य की बारीकियों पर भी आप की बड़ी पैनी दृष्टि रहती है। शब्द शिल्प में तो आपका क्या कहना, इनके जैसे छन्द

लिखने वाले बहुत कम मिलेंगे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर आपका समान अधिकार है। प्रस्तुत पुस्तक के नामकरण में भी आपने बड़ी सूझ बूझ दिखाई। मैंने कई नाम सोचे थे पर अंत में आपके ही सुझाव पर मैंने इस संग्रह का नाम 'आस्था' रक्खा, जो वास्तव में आस्था पर ही आधारित है। समय समय पर 'श्री हिन्दी साहित्य मण्डल' में आप नयी चेतना लाये हैं। कानपुर में मेरा आपसे ही यदाकदा परामर्श होता है।

सीतापुर के श्री बाबूराम जी दास कपूर (रिटायर्ड तहसीलदार), स्व० सुजान जी, रूप जी तथा श्री गणेशदत्त जी सारस्वत, लखीमपुर-खीरी के श्री यमुनादीन जी 'यमुनेन्द्र', स्व० श्री केदार जी त्रिवेदी 'नवीन', श्री रामप्रसाद सराफ़, श्री व्रज बिहारी सहगल तथा बिसवाँ के श्री पं० श्रीकांत जी शर्मा 'कान्ह' और पं० उमादत्त जी सारस्वत'दत्त' का मुझे अत्यधिक स्नेह प्राप्त हुआ और है। इन सबके स्नेह का मैं ऋणी हूँ। श्री 'कान्ह' जी का विशेष ऋणी हूँ। इनसे उऋण भी क्या हो सकूँगा किन्तु उऋण न होने पर भी मुझे संतोष है।

सुकवि श्री पं० कैलाश नाथ वाजपेयी 'कुमदेश' मुझे छोटे भाई के समान प्रिय हैं। ये भी मुझसे निश्छल स्नेह करते हैं। इसी प्रकार श्री विद्याशंकर दीक्षित 'पथिक' भी मुझे छोटे भाई के समान ही प्रिय हैं। इन दोनों को देख बरबस ही मन से शुभाशीष के स्वर फूट पड़ते हैं। चिरंजीव रहें ईश्वर से यही प्रार्थना है।

कानपुर 'श्री हिन्दी साहित्य मण्डल' (जिसका मैं बहुत दिन अध्यक्ष भी रहा) से मेरे कवि को उचित दिशा मिली, शक्ति मिली, मैं उसका भी सदैव ऋणी रहूंगा। मण्डल के प्रत्येक सदस्य को मैं अपनी 'आस्था' सप्रेम अर्पित करता हूँ।

कानपुर के देदीप्यमान साक्षात सरस्वती के पुत्र अद्वितीय विद्वान श्रद्धेय स्व० श्री डाक्टर मुंशी रामजी शर्मा 'सोम' का मुझे सदैव आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में भी उन्होंने स्नेहवश अपना

आशीर्वाद देकर मुझे कृतकृत्य किया है। आपके श्री चरणों में मेरे कोटि कोटि नमन। प्रसिद्ध क्रांतिकारी तथा काकोरी डकैती केस में कालापानी से लौटे महान देश भक्त श्री शिव वर्मा जी का मैं हृदय से आभारी हूँ। उन्होंने ८५ वर्ष की रुग्णावस्था में भी इस पुस्तक की भूमिका लिखकर मुझे कृतार्थ किया है और जीवन में निरन्तर बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान की है। भगवान आपको शतायु करे।

परम आदरणीय अग्रज साहित्य मनीषी श्री डॉ० प्रेमनारायण जी शुक्ल के स्नेह पूर्ण अनुग्रह से मैं अभिभूत हूँ। उनकी विशेष अनुकम्पा से ही मेरी 'आस्था' का प्रकटीकरण हुआ, उनका पुनः पुनः वंदन। लखनऊ के डॉ० 'निशंक' जी तथा श्री पं० अमृत लाल जी नागर को भी विशेष रूप से नमन। भूतपूर्व एम. पी. तथा कानपुर एवं हिन्दी के जाने माने विद्वान श्री नरेश चन्द्र जी चतुर्वेदी ने भी मुझे सदैव सराहा तथा प्रोत्साहित किया है। 'आस्था' के लिये अभिमत देकर मुझे धन्य किया है।

भाई श्री बद्रीनारायण जी तिवारी के विषय में क्या लिखूं। यह कानपुर की वह निधि हैं जिन पर सम्पूर्ण नगर को गर्व है। मानस संगम के माध्यम से आप हिन्दी की अविस्मरणीय सेवा अनवरत अबाध गति से करते चले आ रहे हैं, यह बहुत बड़ी बात है। मैं इन्हें वह कल्पवृक्ष मानता हूँ जिसकी शीतल छाँह घोर निदाघ को भी शीतलता प्रदान करती है। ईश्वर से प्रार्थना है कि सरस्वती का यह पुत्र अमर कीर्ति का वरण करे।

काव्य के विषय में मैं क्या लिखूँ? मैं कवि तो नहीं हूँ पर कवि क्या होता है यह मुझे ज्ञात है। हाँ! जीवन के उतार चढ़ाव से जब जो कुछ पाया, परिस्थितियों के दर्पण में जब जो बिम्ब उभरे, वही चित्र कैसे छंदों में खींचने का प्रयत्न किया है। अनुभव से जब जो कुछ प्राप्त हुआ छंदों में वही संजोया। समाज को कुछ देने का आधार मेरे अनुभव और उनसे प्रस्फुटित छंद ही हैं। अपनी 'आस्था' का स्वयं क्या विवेचन

करूँ ? इस कृति में जाने अनजाने जो त्रुटियाँ बन पड़ी हों उनके लिए क्षमा प्रार्थना तथा सुझावों का पाठकों से निवेदन है। छंदों से यदि किसी को स्वल्प आनन्द भी मिला तो मैं अपने श्रम को धन्य समझूंगा।

१८/२४२-ए, कुरसवाँ
कानपुर-२०८००१

विनयावनत
"हर्ष"

◘

श्री गणेश वंदन

शुभारम्भ के स्तंभ हो, साधना के-
-पथी के लिये सिद्धि प्रदाता भी हो।
तुम्हीं स्रोत हो प्रज्ञा ऋतंभरा के,
भव भावन हो, भव त्राता भी हो।
कुसंस्कार का ध्वांत विनाशने को,
तुम्हीं हे गणनायक धाता भी हो।
मिटा भाल के देते कुअंक जो,
ऐसे विधानों के वंद्य विधाता भी हो॥

श्री शारदा वंदन

आ रसना पर विश्व नमस्कृते,
मैं तव गौरव गाने चला हूँ ।
वामन होकर माँ नभ से,
बसुधा पे सुधाकर लाने चला हूँ ।
और अनंत दर्दोनिधि को मथ,
रत्न अपूर्व उठाने चला हूँ ।
अंबा तेरे पग धोने को, नूतन
जाह्नवी आज बहाने चला हूँ ।

□

तुम्हीं ब्रह्म की चेतना हो, गिरा की,
अभिव्यक्ति में बिंबित होती हो माँ ।
तुम्हीं शब्द में, शब्द के शिल्पियों की,
कलाशक्ति में बिंबित होती हो माँ ।
तुम्हीं सिद्धि का द्वार हो, साधकों की,
घनी भक्ति में बिंबित होती हो माँ ।
तुम्हीं पुष्टि हो, तुष्टि हो मेधा, धरा,
पराशक्ति में बिंबित होती हो माँ ।।

□

विश्व विभोर किये अपनी,
लय में जय माये ! प्रणाम तुम्हें ।
होती हैं धन्य कला तुमसे,
वर देवों ने पाये, प्रणाम तुम्हें ।
माँ ! कुछ पुष्प लिये हम भी,
तव मन्दिर आये, प्रणाम तुम्हें ।
गौरव ! दे जय दे ! वर दे !
चतुरानन जाये ! प्रणाम तुम्हें ।।

चली आती हैं टेरते ही, मुझसे,
जन दीनों को गौरव देती है माँ ।
बड़ी ही मया है, दया है, सद्या,
दुखियों की सदा सुधि लेती है माँ ।
विभा व्याप्त है मानस में इन्हीं की,
मम हंस निकेत निकेती है माँ ।
नई चेतना दे, नई प्रेरणा दे,
मेरी नाव निरन्तर खेती है माँ ।।

□

है न अदेय तुझे कुछ, दे फिर,
एक सुरक्षित कोना मुझे भी ।
मैं कृतकृत्य करूँ निज को,
अघ भार न हो फिर ढोना मुझे भी ।
निश्चित है इस जीनव में,
जगदम्ब चमत्कृत होना मुझे भी ।
तू करुणाकर दे वर दे ! बस,
एक प्रसाद का दोना मुझे भी ।।

□

त्वरा से परा को पराशक्ति दे माँ !
मिटा भूमिका भौतिक द्वन्दों की दूँ ।
कला दे मुझे ऐसी कि मैं मति को,
बना मूक मदांध मयंदों की दूँ ।
विभा से धुली शर्वरी में मधु की,
सजा वाहिनी मत्त गयंदों की दूँ ।
विधा तो मुझे तू नई दे, तुझे मैं,
मणि माला नये नये छंदों की दूँ ।

पा कुछ मैं भी तो सार सकूँ,
वर दे, वर श्री निज श्री चरणों की ।
ले हर मोह, न शेष रहे अब,
छाया भी माया के आवरणों की ।
धन्य हुए कितने, गणना,
कब सम्भव है उन उद्धरणों की ।
ले सुधि मेरी भी तो वर वृद्धि हो,
दान के तेरे उदाहरणों की ॥

□

झंकृत वीणा करो, मिलने
रस का कुछ स्वाद मुझे भी तो दो ।
झूम उठूं सुन के जिसको,
सुनने वह नाद मुझे भी तो दो ।
माँ ! अपने पद गौरव का,
करने अनुवाद मुझे भी तो दो ।
जीवन धन्य करूँ जननी,
चरणों का प्रसाद मुझे भी तो दो ॥

आरती

क्षालन को पद पंकज, वारि
विवेक सरोवर से भर लाया ।
चंदन के हित अंतर भक्ति
लिये, रस रोचन को घर लाया ।
माला है काव्य प्रसूनों की,
नूतन अक्षत को रख अक्षर लाया ।
माँ ! अनुराग प्रदीप जगा तव,
आरती "हर्ष" सजा कर लाया ॥

वाणी–सरोवर

था यह ज्ञात किसे, इस भाँति
यहीं मिल जायेगा वाणी सरोवर ।
क्यों अब सिंधु चलें, अब रत्न
यहीं प्रगटायेगा वाणी सरोवर ।
जीवन में युग जीवन के, नव-
जीवन लायेगा वाणी सरोवर ।
मान–सरोवर सा जन–मानस
में लहरायेगा वाणी सरोबर ।।

☐

नूतन भावों से भूषित, शुभ्र
विभा युत है यहे वाणी सरोवर ।
पावन ऐक्य अभीष्ट लिये,
बहु संस्तुत है यह वाणी सरोवर ।
निश्चय पायेगा गौरव भी,
अति अद्भुत है यह वाणी सरोवर ।
वाणी तेरे पद पंकज धोने को
प्रस्तुत है यह वाणी सरोवर ।। ×

☐

× यह छन्द वाणी सरोवर त्रैमासिक पत्रिका के लिये लिखे गये हैं । श्री भुवन वाणी ट्रस्ट के प्रकाशन पर दिये थे ।

प्रकाश नया करो माँ !

ऊब उठा हूँ छद्म की माधुरी से,
मुझपे कुछ ऐसी दया करो माँ।
रहें नाम को भी न विसंगतियाँ,
इन्हें चूर्ण यों पूर्णतया करो माँ।
मिटा दो कुसंस्कार का ध्वांत मेरे,
अपराधों को आया गया करो माँ।
मिले हर्ष ही हर्ष के मन्दिर में,
अब ऐसा प्रकाश नया करो माँ ॥

कला

कला में कला की विधा बोलती हो,
कलाकार के बोलते इंगितों में।
नया ओज दे स्वस्थ जिजीविषा दे,
नये स्रोत दे सर्जना के हितों में।
करे सत्य सी मूर्त जो कल्पना को,
हो नमस्कृत देवाभिनंदितों में।
कला तो उसी को कहा जा सकेगा,
जो सजीवता लाये अजीवितों में ॥

वंदन–विशेष

जो जग के प्रति प्राणी के प्राणों को,
दीप्त करे उस प्राणी का वंदन ।
प्राप्त करा जय भावी पे दे यदि,
तो कर लूं उस ज्ञानी का वंदन ।
जो समझा सके जीवन दर्शन,
है उस शोध प्रमाणी का वंदन ।
देती है जो वर हंस-विवेक-मयी-
प्रतिभा, उस वाणी का वंदन ॥

नीर भरे नयनों में रहा

व्यस्त अभी तक जीवन भौतिक,
चिंतन, अध्ययनों में रहा ।
उन्मन सा मन मग्न निरंतर,
ही सुख के चयनों में रहा ।
किन्तु छिपा वह चेतन रे,
किन आवरणों अयनों में रहा ।
मैं जिसके पद पंकज धोने को,
नीर भरे नयनों में रहा ॥

कुरुक्षेत्र

इसी भूमि पे क्रुद्ध हो युद्ध का
साज सँजोना पड़ा भगवान को था।
इसी भूमि पे भूमि को, क्षत्रिय
रक्त से धोना पड़ा भगवान को था।
इसी भूमि पे भक्त के गौरव में,
प्रण खोना पड़ा भगवान को था।
इसी भूमि पे मानव के व्रत,
मानव होना पड़ा भगवान को था॥

कुरुक्षेत्र की लालिमा

गिरी भूमि पे रक्त की राशि है या,
किसी की दबी अन्तर-ज्वाला पड़ी है ?
पराभूति की या अनुभूति से, क्षत्रियता
मुँह में दिये ताला पड़ी है ?
किसी सूरमा का पथ देखती या,
धरा पे कोई क्रान्ति कराला पड़ी है ?
किन्हीं क्रान्ति के या कि पुजारियों के,
लिये मेदिनी में मधुशाला पड़ी है ?

□

त्वेष हठी रविनंदन का, कि
धनञ्जय का रिपु द्वेष पड़ा है ?
पौरुष पूज्य पितामह का,
अथवा गुरु गौरव शेष पड़ा है ?
या प्रण पूर्ति, पराक्रम का,
कुरु प्रांगण में अवशेष पड़ा है ?
या किसी व्यक्ति विशेष के
रोचन के लिये रक्त विशेष पड़ा है ?

□

आहत हो किन मानियों का,
अवनीतल पे अभिमान गिरा है ?
या यह जौहर के युग की,
सतियों का सिन्दूर महान गिरा है ?
या कि यही मरु है जिसमें,
मनु वंशज हो हत-ज्ञान गिरा है ?
या कि कहीं नभ में तड़पी,
तड़िता का छुटा परिधान गिरा है ?

□

किसी वीर के भाल पे रोचन को,
धरा या धरे कुंकुम थाल हुई है ?
यहीं फाग या रक्त की खेली गई,
उसी रक्त की राशि गुलाल हुई है ?
यहीं भूमि पे फूटी थी बाड़व या,
यहीं या रण चण्डी निहाल हुई है ?
पिया रक्त है मानवों का, इसी से
या कुरुस्थली लाज से लाल हुई है ?

बसंत

अपने अभिमान में चूर था जो,
उस शीत का अंत तो हो के रहा ।
प्रतिकार न एक चला किसी का,
छवि पूर्ण दिगंत तो हो के रहा ।
इतनी रसवृष्टि हुई, मधु का,
मधुरत्व अनंत तो हो के रहा ।
पतझार को खानी पड़ी मुँह की,
ऋतुराज बसंत तो हो के रहा ॥

अनायास ही यौवनोद्वेलना,
शैशव के परिधानों से फूट पड़ी।
सुधा स्रोत सी मादकता अलि के,
मधुसिंचित गानों से फूट पड़ी।
कला विश्व विमोहिनी दिग्वधू की,
उड़ती मुस्कानों से फूट पड़ी।
पिये वारुणी सी जब ऊषा,
बसंत के स्वर्ण विहानों से फूट पड़ी॥

□

लगीं झूमने कुंजों में वल्लरियाँ,
मधु ढाले प्रसूनों की प्यालियों में।
इसी दौर में बौर रसाल उठे,
छलका मकरन्द द्रुमालियों में।
हरे हो उठे अंचल यों बनों के,
लगे लाल पलाशों की डालियों में।
चली खेलने मानो रसा रस रंग,
हरी हरी पन्ने की थालियों में॥

□

चकाचौंध सी है, मधुयामिनी की,
विभा में वह तीव्र त्वरा आ गई।
नये प्राण से प्राणों में डालती या,
धरा पे नई रश्मि-धरा आ गई।
सुधास्नान या वारुणी में करके,
हो अलंकृत विश्वंभरा आ गई।
धरे केसरी बाना दिशाओं के या,
परिवेश में पीताम्बरा आ गई॥

□

माधव आते हैं शोर हुआ,
विपिनों ने सजा प्रति पौर दिया।
स्वागत में सुमनावलि ने,
रँग सृष्टि का रंग ही और दिया।
आसन दे, ऋतु के पति के,
लगा कंजों ने केसर खौर दिया।
भौंरों ने मंगल गीत पढ़े,
रख शीश पे बौरों ने मौर दिया॥

□

माधव आये हैं शोर हुआ,
हर फूल खिला, हर डाली हँसी।
शुष्क हुये अवनीतल पे,
नव यौवन सी हरियाली हँसी।
बिंबित हो मधुमादन सी,
जब व्योम पटी पर लाली हँसी।
भौरों के गुंजन को बतलाकर,
बेसुरा, कोयल काली हँसी॥

□

पड़ पैर गये जहाँ माधव के,
मधु मान वहीं पर होने लगा।
बज बीन उठी भ्रमरों की जहाँ,
मधु गान वहीं पर होने लगा।
जिसने जहाँ हाथ पसार दिये,
मधु दान वहीं पर होने लगा।
जिस द्वार मधुब्रत जा पहुँचे,
मधु पान वहीं पर होने लगा॥

□

मत्त हुई नवयौवन पा,
कलियाँ मुस्कायें न तो क्या करें ।
पी मधु, ऊपर से छवि की,
मदिरा, अलि गायें न तो क्या करें ।
पंचम छेड़ न क्यों पिक भी,
अधिकार जतायें न तो क्या करें ।
कुंजों ने पाये सँवार नये,
मकरंद लुटायें न तो क्या करें ॥

□

बढ़ा यौवनोन्माद सा वासरों में,
मधु भार से मत्त दिशायें हुईं ।
सराबोर हो रंग में माधव के,
मधुवासित सी विदिशायें हुईं ।
हँसे व्यंग्य, यों जागृत योगियों में,
भव भोग की सुप्त तृषायें हुईं ।
कहीं प्रेमियों की रँगरेलियों के,
सपनों में विभोर निशायें हुईं ॥

□

मधु बात चली, अलियों ने कहा,
कलियों से कहो कुछ कान करें ।
अब तो मधुमास हुआ, हँस के,
मधुपर्व मनायें न मान करें ।
कह दो हम नित्य नहीं कहेंगे,
इतरायें न यों, रस दान करें ।
मधुपी, मधुपी ने कहा मधुपी !
मधुपों से कहो—मधुपान करें ॥

□

इतना मधु ढालो कि सृष्टि छके,
फिर भी मधु पात्र भरे ही रहें।
छवि को इतनी छवि दो, सुषमा,
के सँवार नये निखरे ही रहें।
वह अक्षय का वर दो कि सदा,
तट यौवन के उभरे ही रहें।
मधु को अमरत्व मिले,
महाकाल के काले विधान धरे ही रहें।।

—०—

आज के युग का बसंत

गुंजन गुंजित कुंजों में है फिर,
पंकज फूले हैं पानी के ऊपर ।
झूम दिगंत उठे, इतनी छवि,
गंधवती महारानी के ऊपर ।
स्वर्ण विभा बरसी वसुधा पर,
माधव की अगवानी के ऊपर ।
ध्यान परन्तु गया किसका कब,
दीनों की राम कहानी के ऊपर ॥

□

हैं कितने युग बीत गये,
कोई पर्व न स्वस्थ मनाये गये हैं ।
पीड़ित हैं मन, पीड़ित रे,
जन मानस यों उकसाये गये हैं ।
हैं अकुलाये से प्राण हुये,
कब से मधुगीत न गाये गये हैं ।
ज्ञात नहीं किस ओर गये,
ऋतुराज कहाँ उलझाये गये हैं ॥

□

क्या मधुवात चली, दुखिया जब
सोते हैं उष्ण थपेड़ों के नीचे ।
क्या मधुमास यही ? धिक साधन-
-हीन पड़े थल बेड़ों के नीचे ।
फूट पड़ें वन ध्वंस न ये,
चिनगारियाँ जो दबीं मेड़ों के नीचे
दें न उन्हें धधका, जिनके
दिन बीत रहे पथ पेड़ों के नीचे ॥

—०—

नया वर्ष

मिले देखने को जो अभी तक हैं,
किसी एक के स्पर्श नये नहीं थे।
किसी के फलादेश हितों में न थे,
किसी के परामर्श नये नहीं थे।
किसी के भी विधान में पीड़ितों के,
लिये भाव विमर्श नये नहीं थे।
नहीं जानता हूं इस वर्ष की हाँ,
गये वर्ष वे वर्ष नये नहीं थे ।।

□

नये लक्ष्य हैं, चिंतनों की दिशा भी,
नई है, नये निर्णय हो रहे हैं।
खड़ा सत्य है मूक बना, अब
न्याय के भी क्रय विक्रय हो रहे हैं,
यही आज की एक विशेषता है,
सही तथ्यों में संशय हो रहे हैं।
दयासिंधु की सृष्टि में देखता हूं,
कि नये नये विस्मय हो रहे हैं ।।

□

नहीं ला सके हैं समता अभी ये,
अभी भेद के भाव नहीं मिटे हैं।
अभी दीनता के प्रति वैभव के,
घृणापूर्ण दुराव नहीं मिटे हैं।
नये वर्ष का हर्ष ही क्या, किसी के
दुखदायी अभाव नहीं मिटे हैं।
अभी सृष्टि के एक भी पृष्ठ से,
रूढ़ि के दुष्ट प्रभाव नहीं मिटे हैं ।।

छिड़ी युद्ध की क्रुद्ध विभीषिका को,
जग से जो समूल मिटा सकेगा।
नहीं लेश भी द्वेष का शेष रहे,
वह पावन ऐक्य जो ला सकेगा।
मिलें कंठ से कंठ, सहिष्णुता का,
हमें जो नया पाठ पढ़ा सकेगा।
उसी वर्ष को मानूँगा वर्ष नया,
वही वर्ष नया कहा जा सकेगा॥

चिथड़े

इन्हीं विश्व के मिथ्या प्रलोभनों ने,
जब दूर ही से भरमाया मुझे।
सुखों के छली चितनों ने निशा में,
बन के जब स्वप्न रुलाया मुझे।
स्वरों में भरे व्यंग्य के वैभव ने,
हँस के जब था तड़पाया मुझे।
तभी अर्थ सा खोल के जीवन का,
चिथड़ों ने यथार्थ बताया मुझे।।

□

ये लहराये थे अम्बर पे,
इतना गुरु गौरव पाये हुये थे।
रूप तथा छवि के मन में,
बन ये मनमोहन छाये हुये थे।
किंतु मिटा न सके वह लेख,
ललाट में जो कि लिखाये हुये थे।
आज वही ठुकरा रहे हैं, कल
जो इन्हें कंठ लगाये हुये थे।।

□

था वह गौरव प्राप्त इन्हें,
यह स्वर्ण सितारों से टाँके गये थे।
किंतु न थे चिथड़े तब ये,
तब ये वत रत्नों के आँके गये थे।
गर्वित होते न क्यों, इनसे
महारानियों के तन ढाँके गये थे।
शोभित होकर शाहों के भी
तन पे, बन शाह जहाँ के गये थे।।

जिसे मान दे मालिक तो भी उसे,
यह भान न हो, अस्वाभाविक है।
जिसे उच्चता प्राप्त हो, श्रेष्ठता का
उसे ध्यान न हो, अस्वाभाविक है।
इसी को कहा विश्व में दंभ गया,
ये विधान न हो, अस्वाभाविक है।
किसी को उठा देख के द्वेषियों की,
मति म्लान न हो, अस्वाभाविक है ॥

□

जिन्हें मान था ऐसा मिला कि
नरेशों के द्वारा जो हाथों ही हाथ लिए गये।
महोत्कर्ष भी कैसा हुआ, जिनके
नये से नये नित्य शृंगार किये गये।
इन्हें क्या पता था चिथड़े बनेंगे,
इतना जो सँवार सँवार सिये गये।
हुये जीर्ण तो आह तिरस्कृत हो के,
उतार के, फाड़ के, फेंक दिये गये ॥

□

पड़े राह में देख फटे इन्हें हा,
इनसे सभी लोग फटे हुये हैं।
जिन्हें साज के गौरव देते थे ये,
चिथड़ा बता वे भी हटे हुये हैं।
बड़े गूढ़ हैं भाग्य के लेख रे ! ये
इसी से उचटे उचटे हुये हैं।
गये भूल जो भूलने वाले तो क्या,
जिन्हें याद हैं वे भी कटे हुये हैं ॥

किसी का कहीं ठीक नहीं कुछ भी,
किसे हो सका भान भविष्य का है।
पड़े देखना क्या क्या यहाँ किसको,
अनुमान किसे उस दृश्य का है।
किसे ज्ञात है पीना हलाहल या,
लिखा भाग्य में भोग हविष्य का है।
बड़ी गूढ़ है माया दुरत्यया रे,
बड़ा अद्भुत खेल अदृश्य का है।।

□

बुझे दीपकों की उदासीनता से,
लुटे अंचलों का सा विषाद लिये हुये।
पड़े आज ये कैसे निरीह से हैं,
छली भाग्य का अर्थानुवाद लिये हुये।
इन्हें व्यंग्य से बेधो न यों, यह हैं
स्वयमेव घना अवसाद लिये हुये।
गिरे भूमि के अंक पे आहतों से,
निज स्वर्ण अतीत की याद लिये हुये।।

□

वैभव त्याग चुका इनको, यह भी
उससे मुख मोड़ चुके हैं।
क्या प्रभुता, लघुता चिथड़े,
इन भेद विभेदों को छोड़ चुके हैं।
हर्षित हैं सुख या दुख हो,
जड़ माया के बंधन तोड़ चुके हैं।
खोज लिये अपने प्रभु की,
दुखी दीनों से जीवन जोड़ चुके हैं।।

नहीं बात भी पूछता कोई जिन्हें,
उन्हें भी बढ़ अंक लगाते हैं ये।
सभी भाँति जो लूटे गये जग में,
उन दीनों की लाज बचाते हैं ये।
इन्हीं में छिपे लाल मिला करते,
यहाँ काम प्रत्येक के आते हैं ये।
अरी श्रेष्ठों की सभ्यते ! देख ले तू,
फिर भी चिथड़े कहे जाते हैं ॥

□

नहीं खिन्न ये होते किसी दशा में,
किसी से दुखड़ा नहीं रोयेंगे ये।
छिपा मूल में जो सभी कारणों के,
उसी की अब याद सँजोयेंगे ये।
इन्हें दोष या श्रेय बुरे-भले का,
मत दो, यह भार न ढोयेंगे ये।
रहे इंगितों पे जिसके, उसी के
पदों में फिर प्रस्तुत होयेंगे ये ॥

□

कुछ माँगो नहीं कुछ देकर भी,
उपकार के नाते यहीं तक हैं।
मत सत्य कहो, न बुरे बनो,
न्याय विचार के नाते यहीं तक हैं।
सब के सब स्वार्थ सधें, प्रिय
के, परिवार के नाते यहीं तक हैं।
चिथड़ों प्रतिदान यहाँ कहाँ है,
यहाँ प्यार के नाते यहीं तक हैं ॥

□

विका न्याय तो शक्ति के हाथों हुआ,
धिक शक्ति विहीन का कोई नहीं है।
कहा सत्य ने कुंठा भरे स्वरों में,
कि यहाँ पराधीन का कोई नहीं है।
अरे नीति हो या हो अनीति, ये
रीति है, साधनहीन का कोई नहीं है।
नहीं जानता राम रहीम की हूँ,
पर विश्व में दीन का कोई नहीं है॥

—०—

छलना

क्यों अकुला, अकुला किससे
मन उन्मन हो मन माँग रहा है।
जो न कभी पिघले, उस पाहन
से करुणाकण माँग रहा है।
ये छवि की मदिरा विष है,
विष से मधु सिंचन माँग रहा है।
है कितना छल, जीवन रे,
मरु भूमि से जीवन माँग रहा है ।।

□

आसन पाकर अंबर पे,
स्वकलंक मयंक मिटा न सका।
मंडल का पति होकर भी,
रवि दानव पे जय पा न सका।
जीवन से भर जीवन की,
जब प्यास पयोधि बुझा न सका।
विस्मय क्या, फिर मानव ही
यदि पत्थर को पिघला न सका ।।

□

पा न सको जिसको, उसकी
अपने मन में तसवीर न खींचो।
लाख अभाव खलें, खटकें,
पर आह भी होके अधीर न खींचो।
आ न सँयोग सुयोग सके,
तो विषाद की काली लकीर न खींचो।
प्रेम वही तड़पो जिसमें, पर
अंतर में चुभे तीर न खींचो ।।

□

सुमनावलियों से सुगंध उड़ा,
मधुपी तुझे लूटती माया कोई।
जलजात के मोहक वेश में है,
छल-छंद से आवृत काया कोई।
हँस के छवि के अवगुंठन से,
करता मति को निरुपाया कोई।
मधु लोभ दिखा तुझे खींच रहीं,
चुपचाप अदृश्य सी छाया कोई॥

—०—

अतीत से

व्यर्थ न और कुरेद मुझे,
कुछ तो मेरी शांति बनी रहने दे।
यों हँस के मत घाव हरे कर,
तू मेरी पीड़ा घनी रहने दे।
ओ कल के छल जा हट जा,
इतनी करुणा अपनी रहने दे।
सांत्वना दे न मुझे, मुझपे
भृकुटी बस टेढ़ी तनी रहने दे॥

□

खोल न विस्मृति के पट, ये
खुल के सुलगा नई आग न जायें।
स्वप्न छली सुख के, फिर लूट के
ले कहीं मेरा विराग न जायें।
लौट नहीं सकते अब वे दिन,
ये दिन भी मुझे त्याग न जायें।
मेरे अतीत न कोंच मुझे,
कहीं सोयी व्यथायें भी जाग न जायें॥

□

छेड़ न मेरी विरक्ति अरे,
अनुरक्ति को मेरी मरोड़ने वाले।
अमृत का विष दे न मुझे,
मधु स्वप्न को मेरे बिलोड़ने वाले।
हाँ सुन एक निवेदन ले,
मकरंद से जीवन जोड़ने वाले।
आ मत मेरी मरीचिका में,
हँस के मुझसे मुख मोड़ने वाले॥

—०—

प्रकाश से

मुक्तिजयी मन उन्मन उन्मन,
आतुर माया के घेरे में क्यों है ?
लक्षित लक्ष्य हुआ, पर निश्चय
विभ्रम के छल फेरे में क्यों है ?
बीत चुकी रजनी तम की,
फिर भी अभी भ्रांति सबेरे में क्यों है?
मानस का पट धूमिल क्यों प्रिय !
मेरे प्रकाश अँधेरे में क्यों है ?

□

हँस हँसे, पर नेत्र अभी तक
तंद्रित हैं, मन भारी है कैसे ?
क्यों अलि मौन-विमोहित, बेसुध
बेसुध कंज-कुमारी है कैसे ?
देख रहा किसका पथ मंदिर,
अन्यमनस्क पुजारी है कैसे ?
जीवन के पथ-दर्शन में,
पथ दर्शक देर तुम्हारी है कैसे ?

□

देख सकूँ छवि भी तम की,
वह स्वस्थ प्रकाश तो दे दो मुझे ।
धो अपने अनुताप सकूँ,
इतना अवकाश तो दे दो मुझे ।
भूल निजत्व परत्व सकूँ,
वह स्नेहिल पाश तो दे दो मुझे ।
दे तुमको कुछ गीत सकूँ,
अपना मधु हास तो दे दो मुझे ।।

———

छटपटाहट

है अपना यह देश नहीं,
अपना तो यही अनुमान है संगिनि ।
क्योंकि सुना यह जीव यहाँ,
कुछ ही दिन का मेहमान है संगिनि ।
और कहाँ फिर जाँय, अभी
इसका भी नहीं कुछ ज्ञान है संगिनि ।
जीवन एक नियंत्रित उर्मि,
अनिश्चित स्वप्न समान है संगिनि ।।

□

क्षण एक न जाना हुआ अपना,
पहिचाना नहीं कण एक भी है ।
इस जीवन युद्ध में तेरे बिना,
कब जीता कहाँ रण एक भी है ।
कब क्या हुआ, क्यों हुआ, कैसे
हुआ, कुछ ज्ञात न कारण एक भी है ।
करुणाकर तेरे सिवा भव के,
भय का न निवारण एक भी है ।।

□

पड़े पाश में हैं पराधीनता के,
कहीं मुक्ति का मार्ग न पा रहे हैं ।
नहीं ज्ञात है कौन से यन्त्र हमें,
यहाँ यन्त्र की भाँति चला रहे हैं ।
करें क्या बड़े ही उहापोह में हैं,
युगों से यही देखते आ रहे हैं ।
दिये लक्ष्य का लोभ, अलक्ष्य जहाँ,
लिये जा रहा है, चले जा रहे हैं ।।

घोर विरक्ति भरी, फिर भी
अनुरक्ति के घेरे न टूट रहे हैं।
माया तो काट चुके मन की,
पर मोह के पाश न छूट रहे हैं।
प्रश्न कचोट रहा, नयनांचल
से करुणा कण फूट रहे हैं।
ज्ञात न क्यों हमको भव के
यह तुच्छ प्रलोभन लूट रहे हैं॥

□

पड़ा हूँ कहाँ ज्वारों के इंगितों पे,
यह क्या छल प्राणों से हो रहा है?
उदासीनता कैसी है ये, अब कूल भी
मौन हैं, संयम खो रहा है।
पिये जा रहा जीवन जीवन को,
अति विस्मय हो मुझको रहा है।
सुना है मेरा माँझी समीप यहीं,
इन्हीं उर्मियों में कहीं सो रहा है॥

□

कोमल प्राणों से भावुक जीवन,
के गुरुभार उठा सकने का!
चंचल दृश्यों के अंचल में,
उलझे मन को सुलझा सकने का,
कौन प्रयत्न करूँ अनुकूल,
अदृश्य भविष्य बना सकने का।
मैं किससे किस भाँति करूँ–
प्रण, साथ सदैव निभा सकने का?

——:०:——

दुनिया

द्वेष भुला न सकी, अपने
अभिमान में फूली हुई दुनिया ये।
दीन हुई जा रही कितनी,
निज दीन को भूली हुई दुनिया ये।
है न कभी सुधरी, उस
मत्सर पाश में झूली हुई दुनिया ये।
भूल बताने चले इसे जो,
उन्हें हाय रे शूली हुई दुनिया ये॥

□

बजती शहनाइयाँ देखीं कहीं,
कहीं मातम छाया निगाहों में है।
हँसती हैं कहीं रंगरेलियाँ तो,
किसी का जग सीमित आहों में है।
करता वल नर्तन नग्न कहीं,
करुणा रही काँप कराहों में है।
पुजती है कहीं पर दानवता,
कहीं रोती मनुष्यता राहों में है॥

□

अंगुलियाँ न उठें, यश, कीर्ति,
पुकार रहे पति जाने न पाये।
गौरव चिंतित है कि परिस्थिति,
जीवन को उलझाने न पाये।
कोंच विवेक रहा कि कहीं,
अनजाने असंगति आने न पाये।
किंतु विचार किया किसने,
कि मनुष्यता ठोकरें खाने न पाये।

साज मिले जिनको सुख के,
खलते हैं उन्हें सुख साज के बंधन।
जो दुखिया दुख से दुखी हैं,
जकड़े हैं उन्हें दुख व्याज के बंधन।
किंतु न कोई भी रो सकता यहाँ,
हैं इतने कड़े लाज के बंधन।
चूस रहे किस भाँति समाज का
रक्त ये क्रूर समाज के बंधन॥

□

क्षणों में बड़े से बड़े योगियों ने,
सभी सिद्धि महानता खोई यहाँ पर
फँसे भोग में भोगियों ने बस
वासना की विषबेलि ही बोई यहाँ पर।
पड़े पाश में पीड़ा के पीड़ितों की
असमर्थता बेबस रोई यहाँ पर।
हँसी झूम के माया जो मानवों ने,
निज आँसुओं से धरा धोई यहाँ पर॥

□

शांति उपासक हैं बिरले,
मिला क्रांति में उज्ज्वल ध्येय कहीं कहीं।
पत्थर हैं पुजते जग में,
मिला सत्य यथार्थ को श्रेय कहीं कहीं।
हैं उपमान पड़े पथ में,
पर हैं मिलते उपमेय कहीं कहीं।
विस्तृत है कितना पर व्योम में,
तारे भी हैं उपादेय कहीं कहीं॥

—०—

मानव

क्यों अघभार बने अवनी पर
मानव को खलते रहे मानव ?
क्यों करते अपकार निरन्तर,
जीवन में जलते रहे मानव ?
क्या उपलब्धि हुई इससे,
ढलते दिन से ढलते रहे मानव ।
जीवन दाता से ध्यान हटाकर,
क्यों कर यों मलते रहे मानव ?

□

किया त्याग तो तूने भले पर,
त्याग में तेरे यथार्थ विरक्ति कहाँ है ?
खड़ा मौन क्यों, तेरे विराग में,
केवल क्षोभ मिला अनासक्ति कहाँ है ?
कहाँ शांति के दर्शन पा सकेगा,
तेरे कथ्य में सत्याभिव्यक्ति कहाँ है ?
जिन्हें पूजता तू रहे पूछ वे,
पूजा में स्वार्थ तो है, बता भक्ति कहाँ है ?

□

फँस ऐसा गया रँगरेलियों में
निज भाग्य विधाता को भूल गया ।
गुरु, मात, पिता, सुत और सुता,
प्रिय को, सगे भ्राता को भूल गया ।
जिसने दिया आश्रय दुर्दिन में,
उस संकट त्राता को भूल गया ।
सुख स्वप्न में मग्न हो मानव तू
निज जीवन दाता को भूल गया ॥

□

व्यर्थ न व्याकुल हो, धिक
रोने से दूर न हो भव पीर सकेगी।
खोज रहा जिस शांति को तू,
उसे पा मति कैसे अधीर सकेगी।
मानव ! बाँध न तेरी व्यथा,
यह अशु की टूटी जंजीर सकेगी।
सीधी तो हो प्रभु की पद पूजा से,
भाग्य की तेरे लकीर सकेगी॥

□

दयादृष्टि भी चाहिये, केवल योग से
भोग का भोग अभुक्त हो कैसे ?
हटा लक्ष्य से, देवता तो क्या मनुष्य,
मनुष्यता के उपयुक्त हो कैसे ?
नहीं धोया जो अंतर का घट तो,
पट जीवन का प्रभायुक्त हो कैसे ?
पड़ा मोह के मादक पाश में मानव,
माया के जाल से मुक्त हो कैसे ?

—०—

आशा

जीवन के पथ में जय की,
विधि ने सफल विधि सी दी मुझे ।
काट प्रत्येक विपत्ति सकूँ,
क्षमता यह वारिधि सी दी मुझे ।
हो अनुप्राणित प्राण उठे,
मम लक्ष्य की सन्निधि सी दी मुझे ।
धन्य दया निधि को जिसने,
यह आशा सुधा निधि सी दी मुझे ।।

□

प्राप्त अभीष्ट हुये मन के,
मेरे जीवन को गतिवान किये रही ।
धैर्य अटूट दिया, दृढ़ साहस,
शक्ति अपूर्व प्रदान किये रही ।
जीवित हूँ इसपे, यह भी
मुझपे मया माँ के समान किये रही ।
एक अदम्य मनोबल दे,
मेरी आशा मुझे बलवान किये रही ।।

□

एक यही निधि है, इसपे
अब आँच अनिष्ट की आने न पाये ।
छू न सकें अनुताप इसे,
यह आर्त न हो अकुलाने न पाये ।
क्योंकि तुम्हारी ही दी हुई है,
कहीं धूलि में ठोकरें खाने न पाये ।
हे हम दीनों के नाथ ! कभी,
मेरी आशा लता मुरझाने न पाये ।।

□

हे प्रभु ! पाया है जो तुमसे,
कर मैं उसका उपयोग रहा हूँ।
प्राणों की शक्ति बढ़ाने को,
आशा के जोड़ नये विनियोग रहा हूँ।
हार न मानी है जीवन में,
विवशात नये दुख भोग रहा हूँ।
मैं अपने कुछ संचित, स्वस्थ
सुयोगों से काट कुयोग रहा हूँ॥

□

अनायास ही की दया आपने जो,
मेरी आशा की ज्योति प्रकाशित हो उठी।
कटी शृंखला संकटों की क्षणों में,
महिमा की सुगंध सुवासित हो उठी।
प्रभो ! धन्य है आपकी वत्सलता,
जो चमत्कृत यों अप्रत्याशित हो उठी।
कृपाकोर से 'हर्ष' विभोर हुआ,
अनुकूलता भाग्य की भासित हो उठी॥

———

गर्वोक्ति

स्वागत हो न जहाँ हँस के,
उस द्वार के दीन भिखारी नहीं हैं ।
भार स्वरूप हमें ममता,
मत दो, उसके अधिकारी नहीं हैं ।
भूखे हैं एक मनुष्यता के,
मिले तो निधियाँ तक प्यारी नहीं हैं ।
हो प्रभुता का प्रमाद जिसे,
उस देवता के भी पुजारी नहीं हैं ।।

□

ठेस लगे जिनसे मन को,
उन द्वारों पे जाने से क्या मिलेगा ।
आँक सके मणि काँच न जो,
उन्हें रत्न दिखाने से क्या मिलेगा ।
ओ नर ! जीव शिरोमणि,
जीवन मूल्य गिराने से क्या मिलेगा ।
भूल न रे ! उस मालिक को,
दुनिया को मनाने से क्या मिलेगा ।।

□

जहाँ आँधियाँ शैलों को ढा रही थीं,
हमने वहाँ सींकें खड़ी कर दीं ।
महाकाल भी चौंक पड़े, सहसा,
हमने जो निगाहें कड़ी कर दीं ।
हमीं ने सही मोड़ दिये युगों को,
बिगड़ी घड़ियाँ सुघड़ी कर दीं ।
हमीं शक्ति हैं स्वायंभुवी,
हमीं ने भगवान की बाहें बड़ी कर दीं ।।

□

बना सिंधु पे सेतु दिये,
महासिंधुओं की गहराई भी नाप चुके हैं।
मुड़े व्योम के कक्ष की ओर भी तो,
लगा ऋक्षों के वक्ष पे छाप चुके हैं।
हमीं माध्यमों से महाक्रांतियों के,
कर अद्भुत कार्य कलाप चुके हैं।
हमीं काल को बंदी बना चुके हैं,
झुका नंदी के नाथ का चाप चुके हैं॥

□

अभी ओज है, प्राण हैं, पौरुष है,
गति पाँवों में, शक्ति भुजाओं में है।
अभी मान लूँ हार असम्भव है,
अभी तो युवा रक्त शिराओं में है।
अभी बोध भी बेबसी का मुझे दें,
क्षमता ये नहीं विपदाओं में है।
मुझे तोड़ना है उसी दंभ को जो,
गतिरोधों की दर्प शिलाओं में है॥

—०—

हिन्दी

आयेगा शीघ्र नया युग, शीघ्र
नये प्रतिमानों में आयेगी हिन्दी।
सूर नये, तुलसी, रसखान,
रहीम नये फिर लायेगी हिन्दी।
आधुनिका युगवाणी के मंडल
में रवि-भा बन छायेगी हिन्दी।
विश्व नमस्कृत होकर, पूर्ण
चमत्कृत गौरव पायेगी हिन्दी॥

□

उद्भव से नव जागृति के,
हम जागृत स्वस्थ विवेक करेंगे।
बाधक तत्वों को दूर हटाकर,
ध्वस्त सभी व्यतिरेक करेंगे।
एक नवीन समन्वय देकर,
भिन्न विचारों को एक करेंगे।
अंब तुम्हारे ये सेवक शीघ्र ही,
हिन्दी का राज्याभिषेक करेंगे॥

—०—

सिंधु यात्रा

महासिधु में आई तरी, लहरों
की भयंकरताओं को तोड़ना है।
चिढ़ा लें अभी, क्या कहेंगी यह भी,
इनकी जड़ताओं को तोड़ना है।
उठीं आँधियाँ, ये भी उठें, अब तो
खुल के कटुताओं को तोड़ना है।
हमें सिंधु क्या, सिंधु के ज्वार क्या,
सिंधु की भीषणताओं को तोड़ना है।।

□

साधन एक न हो जिनका,
जो दुरावों में जीवन, खोजते हैं।
नाव न हो, पतवार न हो,
जो अभावों में जीवन खोजते हैं।
नाविक तो वही हैं जो सदा,
उलझावों में जीवन खोजते हैं।
है तट भी उन्हीं का जो उतार-
चढ़ावों में जीवन खोजते हैं।।

□

व्रती लक्ष्य ही शोधते हैं, पथ या
ध्रुव, तारों की ओर न देखते हैं।
महासिधु के नाविक तुच्छ तृणों
के सहारों की ओर न देखते हैं।
जिन्हें खेलना ज्वारों से आ गया,
वे पतवारों की ओर न देखते हैं।
उन्हीं के लिये अब्धि का अमृत है,
जो किनारों की ओर न देखते हैं।।

□

व्योम निहारो न व्याकुल होकर,
कर्म करो, तम तार मिटा दो।
भूमि कुरेदो न लज्जित हो,
दृढ़ शक्ति लगा भय भार मिटा दो।
लक्ष्य पुकार रहा तुमको,
कि उठो उठ भाग्य विचार मिटा दो।
है कुछ भी न अप्राप्य, असं-
भव का जग से अधिकार मिटा दो ॥

—०—

प्रतिध्वनि

जो कछु मैं कहता, नभ से,
प्रति शब्द वही दोहराता है कोई।
ठीक उसी लय से, गति से,
स्वर में स्वर मेरे मिलाता है कोई।
क्यों इतना छल, क्यों हमसे,
निज को इस भाँति छिपाता है कोई।
भासित होता समीप खड़ा अति,
किन्तु समीप न आता है कोई ।।

□

मेरे ही बोलों को बोल मुझे,
अति विस्मय से भर देता है कोई।
सन्निधि का भ्रम दे मुझमें,
निज में रख अन्तर देता है कोई।
कैसी अबूझ प्रहेलिका, कैसा
रहस्य घना कर देता है कोई।
मेरे ही प्रश्नों से आह मुझे,
मेरे प्रश्नों का उत्तर देता है कोई ।।

□

बनी शून्य में या कहीं भीतियाँ हैं,
नहीं सृष्टि की दृष्टि में आती हैं क्यों ?
नहीं ज्ञात है कैसी विडंबना ये,
छलनायें हमें भरमाती हैं क्यों ?
जहाँ से उठीं, लौटी वहीं पड़तीं,
कर इष्ट का स्पर्श न पाती हैं क्यों ?
हमें भान भी होता नहीं कि,
हमारी पुकारें कहाँ टकराती हैं क्यों ?

□

नहीं दे रहा प्रश्न का उत्तर तो,
रहता बता क्यों नहीं मौन है तू ?
मुझे ही नहीं केवल, यों ही छला,
करता छली चौदहो भौन[1] है तू।
छिपा है कहीं शून्य के अंचलों में,
अथवा किये ओट में पौन[2] है तू ?
रहा खेल क्यों मेरे लघुत्व से यों,
बता कौन है तू, बता कौन है तू ?

□

नहीं व्यर्थ ये होंगी, किसी दिन तो,
कर गुन्जित सारा खगोल उठेंगी।
तुम्हें ज्ञात हो मेरी पुकारें असीम'
अमाप, अतोल को तोल उठेंगी।
दयासिन्धु ! ये गूढ़ अदृश्यता की,
छलनायें अचानक डोल उठेंगी।
छिपे हो जहाँ होके चमत्कृत वे,
प्रतिमायें प्रत्यक्ष हो बोल उठेंगी ।।

□

हे महिमाब्धि ! मुझे अब किंचित,
भी न भुलावों में डाल सकोगे,
मन्दिर से मम मानस के,
निज को न कदापि निकाल सकोगे।
निश्चित है अब ये, मुझपे,
फिर डाल न माया के जाल सकोगे।
वाँछित लेकर मानूँगा मैं,
तुम आग्रह मेरा न टाल सकोगे।

□

१—भुवन
२—पवन

अनायास ही क्या से हुआ यह क्या,
हो चमत्कृत रैन अँधेरी उठी ।
भुला भेद को मैं-तुम के, कला,
वत्सला तेरी किये विना देरी उठी ।
मिले तार से तार वहाँ, यहाँ,
प्राणों में जाग प्रीति घनेरी उठी ।
वहाँ गूँज प्रतिध्वनि मेरी उठी,
यहाँ गूँज प्रतिध्वनि तेरी उठी ॥

पथ का तरु

सीमित मैं, मेरी छाया भी सीमित,
सीमित छाया किसे किसे दूं मैं ?
सीमित पल्लव, पुष्प, फलादिक,
सीमित पाया किसे किसे दूँ मैं ?
कैसे ये सम्भव हो, पथ का
तरु हूँ, मन भाया किसे किसे दूँ मैं ?
केवल माया है काया की छाया में,
छाया की माया किसे किसे दूँ मैं ?

□

सिंचन का कब कष्ट किया,
किसने कब स्नेह परोसा मुझे ?
ढा न सके तब प्लावन, शीत,
निदाघों ने, मेघों ने कोसा मुझे।
हाँ जिसने यह जन्म दिया,
उसने बस दे रस पोसा मुझे।
मैं पथ का तरु हूँ, दृढ़ तो
रखता भगवान भरोसा मुझे ॥

□

स्नेह समान दिया सबको,
असमान रहे वह प्यार नहीं है।
कौन रुके, न रुके अपने,
व्यवहारों में भेद विकार नहीं है।
छाया ही दे सकता, उस छाया
के देने में सोच विचार नहीं है।
मैं पथ का तरु हूँ, मुझ पे
किसी एक का एकाधिकार नहीं है ॥

□

उसी स्नेह से रंकों को स्थान दिया,
जिस स्नेह से वारणारोहियों[1] को।
किसी की मुझे आज्ञा है, सांत्वना दूँ,
पथ के थके हारे बटोहियों को।
इसी मेरी ही छाया में क्लाँति मिटा,
उठे शूर थे वे ले सिरोहियों को।
किया ध्वस्त जिन्होंने व्यपोहियों[2] को,
दिया दण्ड समाज के द्रोहियों को॥

□

ज्ञात नहीं मुझपे कितने,
पशु-पक्षी बसेरा लिया करते हैं।
ज्ञात नहीं कितने दुखिया,
यहाँ आ मन शान्त किया करते हैं।
यों पथ का तरु हूँ, फिर भी
कितने मुझे देख जिया करते हैं।
धैर्य बँधाता हूँ मैं सबको,
मुझे धैर्य विधाता दिया करते हैं॥

□

उन्हें देखिये जो मेरी छाया में,
शान्ति कुटीर बनाने की सोच रहे हैं।
उन्हें देखिये जो मुझे लोभ में आह,
समूल कटाने की सोच रहे हैं।
उन्हें क्या कहूँ जो बिना बात मुझे,
पथ से ही हटाने की सोच रहे हैं।
अरे मार्ग के वृक्ष से भी सब ही,
कुछ लाभ उठाने की सोच रहे हैं॥

□

१--हाथी सवार। २—विनाशक।

हाँ इस स्वार्थ भरे जग में,
कुछ ऐसे भी व्यक्ति विशेष मिले हैं।
जो मुझ पादप रक्षा के हेतु,
बनाते नया परिवेश मिले हैं।
नित्य कृपा करते, फिर भी,
उपकार जताते न लेश मिले हैं।
लाखों प्रणाम हैं थोड़े इन्हें,
यह ऐसे मुझे ऋषिवेष मिले हैं।

□

उठीं आंधियाँ व्यर्थ ले प्लावनों को,
यह धैर्य को मेरे डिगा न सकेंगी।
चली जायँगी लौट के यों, कि यहाँ
फिर ये कभी लौट के आ न सकेगी।
बता दो इन्हें मैं पथ का तरु हूँ;
मुझको यह जीत के जा न सकेगी।
अरे मूल को छूना तो दूर है, ये
मेरी एक भी शाखा हिला न सकेगी॥

□

बना ज्ञानियों के लिये ज्ञेय रहा,
बना गायकों के लिये गेय रहूँगा।
यही मार्ग के वृक्ष का जीवन है,
उपादेय रहो, उपादेय रहूँगा।
करेंगी भला क्या विषमार्तियाँ,
पाता सदा इनपे जय श्रेय रहूँगा।
मुझे मान्यता शक्ति के स्वामी ने दी,
मैं अजेय रहा हूँ, अजेय रहूँगा॥

निवेदन

भार हटाने के हेतु यहाँ,
जब भार बढ़ाने पड़े हमको ।
और हँसे इसके पहिले,
जब अश्रु गिराने पड़े हमको ।
रक्षण में जब सत्य के,
गीत असत्य के गाने पड़े हमको ।
हे प्रभु ! पाप तभी अपने
उपयोग में लाने पड़े हमको ॥

□

ज्ञात नहीं अपराध मुझे निज,
हों यदि तो वह मेरे नहीं हैं ।
क्योंकि कहीं न सुनी घटना,
जिसमें छिपे इंगित तेरे नहीं हैं ।
मानव मात्र निमित्त बना,
कहाँ माया के व्यूह घनेरे नहीं हैं ।
हे प्रभु ! बोल हमें अनुशासन,
तेरे कहाँ पर घेरे नहीं हैं ॥

□

उच्च हिमालय को अणु की,
अणुता के महत्व में जाना पड़ेगा ।
सिंधु असीमित को लघु बिंदु की,
सीमित सीमा में आना पड़ेगा ।
गौरव को नभ के अब निश्चय,
स्वर्ग धरा पे लाना पड़ेगा ।
मैं वह पापी हूँ पुण्यपते !
जिसको तुम्हें कंठ लगाना पड़ेगा ॥

□

होते जो बन्धन मुक्त कहीं,
भवपाश हमें यदि घेरे न होते ।
छाये जो जीवन के तट पे,
जड़ माया के व्यूह घनेरे न होते ।
और न कामना ही करते यदि,
वासना के बने चेरे न होते ।
तो हम शीश झुकाये, अकिंचन
से खड़े सामने तेरे न होते ।।

□

देख सको यदि तो भव के पति,
भाव प्रसूनों की ढेरी भी देखो ।
है किस भाँति चमत्कृत ये,
निज में मम रैन अँधेरी भी देखो ।
खींच रही कितना तुमको,
मेरी तन्मयाशक्ति घनेरी भी देखो ।
देख चुके प्रभुता अपनी,
लघुता महिमामय ! मेरी भी देखो ।।

□

धुलीं पंक्तियाँ वारि से लोचनों के,
प्रिय जो पदों में वही लाया हूँ मैं ।
उठो देवता ! मेरे उठो, बड़े यत्न से,
अंजलि ये भर पाया हूँ मैं ।
छला और न माया से जा सकूँगा,
गहे आपकी शाश्वत छाया हूँ मैं ।
इसी जन्म में होना है धन्य मुझे,
प्रभो विश्व में व्यर्थ न आया हूँ मैं ।।

□

कृपा कोर में देर क्या है प्रभो !
आत्म समर्पण पे अब आ चुका हूँ ।
सुना है बड़ा ही दयावान है तू,
तेरी कीर्ति ऋचाओं में पा चुका हूँ ।
इसे क्या कहूँ, तेरे ही द्रोहियों पे,
तेरी देख अपूर्व दया चुका हूँ ।
महाभाग ! मैं तो तेरी मूर्ति के भी,
पदों की रज माथे लगा चुका हूँ ।।

—०—

मृत्यु

कितना बल है इति के करों में,
कितनी करामातें छिपी हुई हैं।
हँसते दिन को डसने के लिये
यहीं नागिनि रातें छिपी हुई हैं।
इन रातों का रक्त निचोड़ने को,
दिवसों की जमातें छिपी हुई हैं।
कुछ भी जहाँ जीवन देखते हैं,
वहीं मृत्यु की घातें छिपी हुई हैं ॥

□

लहरें जब वेगवती हो उठीं,
तब धैर्य दे स्वस्थ सहारा दिया।
क्षण एक में सारे रहस्य खुले,
मन का मिटा संशय सारा दिया।
भ्रम दूर किये, हरे ताप सभी,
भव के भय से कर न्यारा दिया।
जब जीवन ये तट काट चला,
तब मृत्यु ने दौड़ किनारा दिया ॥

□

औषधि एक न थी जिसकी,
उसको नव प्राणोपचार ले आई।
था भव सिंधु में डूब रहा,
उसको पतवार दे पार ले आई।
जीवन था अभिशाप जिसे,
उसको वरदानोपहार ले आई।
द्वार सभी जिसके रुके थे,
उसे मृत्यु तू मुक्ति के द्वार ले आई ॥

———

वर्षा--घनश्याम

ताप मिटाने को भूतल के,
गगनाङ्गन पे घन छा ही गये।
प्यास बुझाने को जीवन की,
फिर जीवन के धन आ ही गये।
झूम उठी वसुधा मरु के
तट भी रस के घट पा ही गये।
आज रसा पर मानस की,
घनश्याम सुधा सरसा ही गये।।

□

और जहाँ मन हो बरसो,
पर क्षुब्ध निकेतों को भूलो न जीवन।
ध्यान रहे इतना कि अनाश्रित,
आर्त, अचेतों को भूलों न जीवन।
केवल एक नहीं, सबके
सम हो समवेतों को भूलो न जीवन।
भूमि पुकार रही कि अकाल,
ग्रसे हुये खेतों को भूलो न जीवन।।

□

शुष्क मरुस्थल से उर में,
फिर से रसधार बहाओ तो मानूँ।
हैं कब से प्रिय प्राण पिपासित,
आकर प्यास बुझाओ तो मानूँ।
क्या बरसे ब्रज में, यदि मानस
में घनश्याम समाओ तो मानूँ।
जीवन के धन ! जीवन में
फिर से नव जीवन लाओ तो मानूँ।।

उद्‌बोधन

उठो शक्ति के पुत्रों ! उठो, बिफरो,
जननी को उबारने वाले उठो।
उठो केसरी बाने उठो, महा-
क्रांति का रौद्र उभारने वाले उठो।
उठो विक्रमादित्यो ! उठो असि
ले, रिपु का मद मारने वाले उठो।
उठो वज्र के धारने वाले उठो,
यम को ललकारने वाले उठो ॥

□

यहाँ मान्यता शक्ति की है,
जयोल्लास तो शत्रु को टक्कर देने में है।
छिपा श्रेय तो युद्ध को जीतने में,
पुरुषार्थ से स्वत्व को सेने में है।
नहीं डूब के पार है कोई हुआ,
महासिंधु से मुक्ति तो खेने में है।
धरा क्या गँवा जीवन देने में है,
उपलब्धि तो लक्ष्य को लेने में है ॥

□

जिये क्या जिये जो पतनोन्मुख हो,
जियो तो विजयोन्मुख हो के जियो।
लिया है जहाँ जन्म वहाँ के,
समुज्ज्वल गौरव के सुख हो के जियो।
कहीं भी मिले न्याय में न्यूनता तो,
महाक्रांति के आमुख हो के जियो।
उठे प्राण का प्रश्न तो प्राण न दो,
उसी प्रश्न के सम्मुख हो के जियो ॥

□

उठें लाडिले भारती के, कर जो
धरा शायित आज के कंसों को दें।
मिटा चिन्ह दें देश के द्रोहियों का,
मिला धूलि में क्रूर नृशंसों को दें।
हमें चाहिये आज वे शूरमा जो,
नया उदभव द्वादश हंसों को दें।
डिगा ध्वंस भी पायें नहीं हमको
हम ऐसी चुनौतियाँ ध्वंसों को दें ॥

□

व्योम झुका न सके जिनको,
प्रलयानिल मोड़ न पाये जिन्हें।
धू - धू ज्वलंत हुताशन की,
नत होकर शीश झुकाये जिन्हें।
अंबुधि अंजलि दें, निज गौरव
आर्य धरा बतलाये जिन्हें।
वे नर व्याघ्र जनो जननी !
इतिहास निरन्तर गाये जिन्हें ॥

—०—

व्याप्ति

कहीं भी नहीं भेद है मान्यता में
वही फूल में है, वही शूल में है।
वही हेम के हर्षित हास में है,
भर भोग रहा वही धूल में है।
उसी एक की व्याप्ति अनेकता से,
अनुकूल में है, प्रतिकूल में है।
वहीं पुण्य के पावन मूल में है,
वही पाप की भीषण भूल में है।

□

महाक्रांति सा खौलता अंबुधि में,
सुख शांति सहेजता कूलों पे है।
कहीं फूटता दीनों के लोचनों से,
कहीं झूलता 'हर्ष' के झूलों पे है।
मृगों को ग्रसे माया मरीचियों में,
मधु हास बिखेरता फूलों पे है।
कहीं दे रहा दुष्टों को दंड, कहीं
कृपाकोर किये पथ-भूलों पे है।

□

दो तट हैं भव संगम के, अरु
दोनों का पूर्ण प्रसार भी है।
जीवन की गति पे उनका,
अपना अपना अधिकार भी है।
इष्ट प्रतिष्ठित मन्दिर का,
दिव द्वार भी है, भव द्वार भी है।
व्यापक व्यापकता उनकी,
उस पार भी है, इस पार भी है॥

प्रभो !

जा अटकी किस ओर प्रभो !
किसके सुख साज संजो रही है।
कौन मिला मुझसे बढ़ के,
दुखिया जिसके दुख धो रही है।
मैं किस भाँति पुकार रहा,
फिर भी सुनवाई न हो रही है।
हे करुणाब्धि बता कि तेरी,
करुणा किस कोने में सो रही है॥

□

है किस ओर निगाह किये,
किस मादक तान में भूला हुआ है।
खोया सा है किस चिंतन में,
इतना किस ध्यान में भूला हुआ है।
तू जन वत्सल होकर, नीरस
न्याय विधान में भूला हुआ है।
गौरव पाना है तो करुणाकर,
क्यों अभिमान में भूला हुआ है॥

—०—

वैषम्य

है सुख-शैय्या भी है, छवि,
रूप सुरा जिसपे मचला करती है।
प्रस्तुत हैं सब साधन,
वैभव श्री मनमानी कला करती है।
मैं जिस ओर चलूँ, विधि की
गति भी उसी ओर चला करती है।
ज्ञात न कौन अतृप्ति मुझे,
फिर भी क्यों सदैव छला करती है॥

□

हैं सब तो सुख हैं फिर भी,
दुखिया दुख की दुहिता से खड़े हैं।
क्यों यह मौन धरे अभिशापित
गौतम की बनिता से खड़े हैं।
विस्मय है इस हास भरे,
जग में यह आह रुआसे खड़े हैं।
अमृत के तट पे यह क्या,
धिक प्यासे अभी तक प्यासे खड़े हैं॥

——:०:——

सिंधु के प्रति

देवों को दी जय श्री, जिसने
वर अमृत का अधिकारी बना कर।
है जग के हित में रत जो,
निज को अनासक्त पुजारी बनाकर।
केवल बाड़व ज्वाला को ही,
निज अंक धरे निधि न्यारी बनाकर।
देव किया यह क्या तुमने,
उस सिंधु का जीवन खारी बनाकर ।।

□

नीरधि की प्रति उर्मि पे ज्ञात
न कौन सी पीड़ा पला करती है।
व्याकुल ज्वारों की आकुलता,
किसे भेंटने को मचला करती है ?
कौन छली निसकी छलना,
इसको दिन रात छला करती है ?
अंबुधि के उर में बन बाड़व,
कौन सी ज्वाला जला करती है ?"

—:o:—

सिंधु की गर्वोक्ति

आत्म समर्पण अप्रिय है मुझे,
मैं प्रतिशोध में पाला गया हूँ।
दर्प हुताशन का दल के, विधि
की बन विस्मय शाला गया हूँ।
अंबुधि हूं, मुझमें वह जीवन
है, उस साँचे में ढाला गया हूँ।
शंभु धरे विषकंठ, तो मैं
पचा जीवित बाड़व ज्वाला गया हूँ ॥

□

धरे आन पे जान हथेली पे जो,
उस मानी से खेल न कोई करे।
गिने मृत्यु को प्राणदा जो, उस
स्वत्व के ठानी से खेल न कोई करे।
महासिंधु हूँ, मेरी ये घोषणा है,
बलिदानी से खेल न कोई करे।
रहा खेल ये पानी है आग से रे!
इस पानी से खेल न कोई करे ॥

□

आलय हूँ महिमालय का,
मुझे लूट न कोई लुटेरा सकेगा।
जो कुछ घेरे हूँ मैं, किसी से
अब टूट नहीं यह घेरा सकेगा।
कौन सिवा मुझ अंबुधि के,
तुझ पावक पे रख डेरा सकेगा,
बाड़व ! तू कितना धधके,
पर सोख न जीवन मेरा सकेगा ॥

विश्वास

अविश्वास तो हो ही नहीं सकता,
इतने महाश्चर्य दिखा चुके हैं।
बसे ध्यान में थे ही, विचारों में भी
बन के समाधान समा चुके हैं।
गुणातीत मैं कैसे, कहूँ उन्हें जो,
गुणों में लगा जोड़ गुणा चुके हैं।
मिलेंगे कभी ज्ञान की राका में भी,
अनुमान की सीमा में आ चुके हैं॥

□

बना पंगु को देते हैं शृंग जयी,
सिखा देते हैं शृंगों पे नृत्य उसे।
बना अज्ञ को देते हैं विज्ञ, सुधी,
प्रतिभा से किये कृतकृत्य उसे।
मुझे गर्व है ऐसे दयामय पे,
जिसे देते हैं देते हैं नित्य उसे।
किसी रंक पे भी कभी रीझते तो,
बना देते हैं विक्रमादित्य उसे॥

———

मालिक

रूप अनूप सुना उसका,
जिसकी न कहीं मिलती समता है।
मोहित हैं बिन देखे उसे,
उसमें कुछ ऐसी मनोरमता है।
केवल नाम लिये मिटते दुख,
ये उस मालिक में क्षमता है।
ज्ञात नहीं कि रमा उसमें जग,
याकि वही जग में रमता है॥

□

है वह कौन, कहाँ उस मालिक
का हमको कुछ ज्ञान नहीं है।
किंतु सुना अति उच्च उसे,
पर उच्चता का अभिमान नहीं है।
और कहीं उसके अधिकारों में,
ना करने का विधान नहीं है।
माँग न क्यों उससे, जिसमे
कुछ माँग कभी अपमान नहीं है॥

--०--

व्यंग्य

सीख अमूल्य मिली इनसे,
मेरी भ्रांति को टालने वाले यही थे ।
शूल समान चुभे फिर भी,
मुझमें गति डालने वाले यही थे ।
क्या इनको अब उत्तर दूँ,
मुझे क्योंकि सँभालने वाले यही थे ।
व्यंग्य कहाँ, मेरे जीवन से,
त्रुटियों को निकालने वाले यही थे ।।

□

देख अधीर मुझे जिन्होंने,
कुछ धैर्य्य बँधाया, यही वह थे ।
घोर अभावों में भी मुझको,
जिन्होंने अपनाया, यही वह थे ।
व्यंग्य कहूँ इनको कि कहूँ,
जिनसे कुछ पाया, यही वह थे ।
आह जिन्होंने मुझे जग का,
कुछ मर्म बताया, यही वह थे ।।

□

लगे स्वाद में तो कटु नीम से, पे
मेरे जीवन में मधु घोला इन्होंने ।
उठी जाग सी मानस चेतना,
भावना को इस भाँत टटोला इन्होंने ।
मुझे भूल ये व्यंग्य नहीं सकेंगे,
प्रति शब्द यों तोल के बोला इन्होंने ।
मुझे कोंच के मेरा विवेक जगा;
मेरी उन्नति का पथ खोला इन्होंने ।।

□

आँक निजत्व सका जिनसे,
कड़ुवे व्यवहारों ! प्रणाम तुम्हें ।
मैं जिनसे सँभला, सुधरा,
चुभते उपहारों ! प्रणाम तुम्हें ।
पूजन और करूँ किसका,
मन की ललकारों ! प्रणाम तुम्हें ।
धन्य किया मुझको जिन्होंने,
कटु व्यंग्य प्रहारो ! प्रणाम तुम्हें ॥

—०—

भाग्य

पौरुष था कहता कि बढ़ो,
बलवान हो साहस खोने न देना ।
संबल विद्या का था कहता,
निज बुद्धि विवेक को सोने न देना ।
था अभिमान तुला कि कहीं,
झुकना मत आँखों को रोने न देना ।
भाग्य परंतु हँसा कि मुझे भी,
विचारों के बाहर होने न देना ॥

—०—

अपनी बात

उहापोह ने तुच्छता, उच्चता के,
फलीभूत विवेक न होने दिया।
घने ज्ञान में भी हठी दंभ ने,
सत्यता का अभिषेक न होने दिया।
यहाँ से कभी द्वेष की कालिमा का,
न हुआ व्यतिरेक न होने दिया।
अहं भाव से ग्रस्त रे मानव को,
अविवेक ने एक न होने दिया॥

□

बड़ी दूर हूँ रे दलबंदियों से,
नहीं चाहिये द्वेष की घाटी मुझे।
नहीं चाहिये एकाधिकारिता की
हठवाद भरी परिपाटी मुझे
परे ऊँच औ नीच के भेद से हूं,
नहीं भाती दुराव की पाटी मुझे।
मिले हाँ कहीं स्नेह तो मानव क्या,
प्रिय है उस देश की माटी मुझे॥

□

चिढ़े श्रेष्ठता के धनी क्यों,
मठ में हम भी चले आये तो क्या हो गया।
लगी रोक तो थी न कहीं,
जो प्रवेश का पत्र न लाये तो क्या हो गया।
हटे डिब ही से तो रहे,
नहीं शंख डफोर बजाये तो क्या हो गया।
कहाँ झोंक दें नैतिक मूल्य,
न दंभ के भार उठाये तो क्या हो गया॥

जहाँ दीप्त हो ज्योति मनुष्यता की,
वहीं लेनी है पावन दीक्षा मुझे।
तुली तथ्य की तोली तुला पर चाहिये,
सत्य की स्वस्थ समीक्षा मुझे।
वही मान्य है बुद्धि जो मान ले,
अन्य प्रमाण की है न प्रतीक्षा मुझे।
अस्वीकार हो ये जिन्हें हो, किसी को
नहीं देनी है शोध परीक्षा मुझे॥

□

दे कब शांति सकीं मन को,
कुछ भी तो न अश्रु की धारों से पाया।
पत्थर पूज रहे जग को,
उदासीन यथार्थ पुकारों से पाया।
हाँ कुछ तथ्य अवश्य यहाँ,
निज भूलों के गूढ़ इशारों से पाया।
मैं पथ दर्शक मानूँ किसे,
उपदेश तो मैंने विकारों से पाया॥

□

मिली वेदना जो विषमार्तियों से,
नई चेतना सी मन को दे गयी।
पराधीनता की कटुता, प्रति-
-शोध का निश्चय चिंतन को दे गयी।
व्यथा भ्रांतियों की दिशाबोध सही
मुझे मार्गप्रदर्शन को दे गयी।
लगी ठेस जो ठोकरों से, जग की
नया पौरुष जीवन को दे गयी॥

—०—

धोखे में हैं

पहिने जयमाल, वरे जय श्री,
बल के अभिमानी भी धोखे में हैं।
धन राशि अपार धरे, दिवि के
पति से धनी मानी भी धोखे में हैं।
जिनके यश गायन में सुर भी,
रत हैं वह दानी भी धोखे में हैं।
प्रभु की कृपाकोर बिना जग के,
बड़े से बड़े ज्ञानी भी धोखे में हैं॥

दुर्दिन

असाफल्य के व्यंग्यों ने माने हुये,
मतिमानों के धैर्य्य डिगाये यहाँ।
कषाघात ने दुर्दिनों के बड़े से,
बड़े वीरों के अश्रु गिराये यहाँ।
जिन्हें देख के मृत्यु भी चौंकती थी,
कटे वृक्ष से दृष्टि वे आये यहाँ।
चले चक्र जो वक्र तो शक्र भी,
काल की चाल सँभाल न पाये यहाँ॥

□

आते हैं ये जब तो पर क्या,
अपने तक संबल साथ न देते।
साहस, धैर्य्य, स्वशक्ति, सुबुद्धि,
विवेक, मनोबल साथ न देते।
रो पड़ता पुरुषार्थ, निरर्थक
होते हैं कौशल, साथ न देते।
और कहाँ तक दुर्दिन में
दिनमान, घटी, पल साथ न देते॥

□

थी पुजती जिनके पद की रज,
वे पग धूलि हो क्षार हुए हा।
था कल इंगित पे जिनके जग,
वे अब हीनाधिकार हुए हा।
छाये से थे रहते, यहाँ प्राप्त
असंख्य जिन्हें उपहार हुए हा।
आये जो घेरे में दुर्दिन के,
दिखे ढालते अश्रु की धार हुए हा॥

मित्र न देते हैं साथ, उन्हें
दुखड़े बतलाना भी होता निरर्थक।
और उपकृत को उपकारों की,
याद दिलाना भी होता निरर्थक।
कोई भी काम न आता, कहीं
कुछ आश लगाना भी होता निरर्थक।
दुर्दिन होते हैं दुर्दिन ही, जब
अश्रु बहाना भी होता निरर्थक ॥

□

जाकर भी यह भूले न जाते हैं,
कोई भुला भी नहीं सकता है।
दुर्दिन का अभिशप्त, निरीह,
किसी को बुला भी नहीं सकता है।
क्या किससे कहना, दुख में,
खुल के अकुला भी नहीं सकता है।
भीरु न विश्व कहे, इससे
नयनों को रुला भी नहीं सकता है ॥

□

आगत की सुधि ले गत को
कर याद विषाद ये शोभा न देता।
रो मत, ढाल न दोष किसी
पर, व्यर्थ प्रमाद ये शोभा न देता।
काट मनोबल से इनको,
दृढ़ हो, अवसाद ये शोभा न देता।
हैं कितने दिन के यह दुर्दिन,
कातर नाद ये शोभा न देता ॥

श्री गोस्वामी तुलसीदास

मानव ने यदि जीवन में
निज भूलों की ठोकर खाई न होती।
भौतिक मादन के प्रति प्रीति,
प्रताड़ित हो पछताई न होती।
अंतर में कवि के यदि अंतर-
द्वंदों ने क्रांति मचाई न होती।
दर्शन होते न मानस के,
कवि कंठ में भारती आई न होती॥

□

निर्गुण को गुण दे, अपने
गुण से उसका गुण गाया जिन्होंने।
विश्व प्रणम्य बना, पुरुषोत्तम
राम को राम बनाया जिन्होंने।
मंत्र महामणि दे जग को,
अमरत्व का पाठ पढ़ाया जिन्होंने।
थे कवि धन्य वही तुलसी,
विधवा का सुहाग सजाया जिन्होंने॥

□

परे कल्पना से तो न थे, पर
मान्यता में साधिकारिक भी नहीं थे।
निराकार की मान्यता से घिरे,
वंदना में व्यवहारिक भी नहीं थे।
लिये आज हैं जैसी अलौकिकता,
इतने चमत्कारिक भी नहीं थे।
कवे! आपके पूर्व के राम कभी,
इतने अलंकारिक भी नहीं थे॥

मैं

मैं पर था अति गर्व मुझे,
यहीं पे उलझाया सुझावों ने मेरे।
ऊँचा मुझे उठने न दिया,
जड़ता से भरे हुये भावों ने मेरे।
हूँ विधि के विपरीत चला जब,
धोखा दिया वहीं पावों ने मेरे ।
और किया उपहास उसी क्षण,
व्यंग्य के द्वारा अभावों ने मेरे ।।

तो मानूँ

हे प्रभु ये दुख के दिन हैं,
इनमें महिमा दिखलाओ तो मानूँ ।
पीड़ित हैं प्रिय प्राण इन्हें
अब आकर धैर्य बँधाओ तो मानूँ ।
आज अंधेरे में आ पड़ा हूँ,
बन सूर्य सुमार्ग सुझाओ तो मानूँ ।
घेरे हैं नाथ अभाव मुझे,
कुछ पुण्य प्रभाव दिखाओ तो मानूँ ।।

—०—

विस्मय हो विधि को

शूल भरे पथ पे पगों में,
गति लाये तो मानव मानव है।
कंठ लगा कठिनाइयों को,
मुसकाये तो मानव मानव है।
घोर निराशा में आशा के
दीप जगाये तो मानव मानव है।
विस्मय हो विधि को, वह
छाप लगाये तो मानव मानव है॥

□

चला ऊर्मियों से महासिंधु के
वारि को चादर सा सिया जा सकता है।
महाश्चर्य तो होगा, परंतु
हलाहल पीकर भी जिया जा सकता है।
नहीं छोड़ती है किसी को, पर
दाँव तो मृत्यु को भी दिया जा सकता है।
धनी किंतु जो आन के होते उन्हें,
कभी मोल नहीं लिया जा सकता है॥

धोखा न हो

मृगों को कहीं माया मरीचियों के,
भ्रम वारि विचित्र से धोखा न हो।
किसी की किसी के लिये धारणा को,
असंभाव्य चरित्र से धोखा न हो।
किसी को ढँकी छद्म कुरूपता के,
प्रिय दर्शित चित्र से धोखा न हो।
किसी का कहीं भाग्य न रूठे कभी,
किसी मित्र को मित्र से धोखा न हो॥

मनुष्यते

ध्यान दिया तुम पे जिन्होंने,
मिलती है उन्हें कहाँ छाँव मनुष्यते।
स्थान जिन्होंने दिया तुम्हें, छूट
गये उनके घर, गाँव मनुष्यते।
रोते भी आह नहीं बनता, उन-
से जिन्हें देती हो दाँव मनुष्यते।
पूज रही इतने पर भी, यह
सृष्टि तुम्हारे ही पाँव मनुष्यते॥

क्षमा चाहता हूँ

मिली मुक्ति है आज सभी भ्रमों से,
अब और नहीं भ्रमा चाहता हूँ।
हटा मिथ्या की माधुरी ये,
इसमें क्षण एक नहीं रमा चाहता हूँ।
सने पाप से पुण्य के पोखरों की,
करना न परिक्रमा चाहता हूँ।
क्षमा चाहता हूँ, क्षमा चाहता हूँ,
क्षमा चाहता हूँ, क्षमा चाहता हूँ॥

स्वदेश के प्रति

जकड़े जिस देश को बंधन हों,
उसमें है मनानी बहार ही क्या ।
जिसने न स्वदेश पे शीश दिया,
वह यौवन और उभार ही क्या ।
जिससे अरिवृंद अजीव न हो,
वह वार ही क्या, वह मार ही क्या ।
जिसका जग मान ले लोहा नहीं,
उसकी तलवार पे धार ही क्या ।।

□

नित्य सताते हैं जो हमको,
हम भी उनके चलो प्राण हरें चल ।
पीड़ित औ प्रतिबंधित जीवन
में फिर से नई जान भरें चल ।
हैं कब से न चलीं, उन आतुर,
क्रुद्ध कृपाणों पे शान धरें चल ।
रूठी सी जो रण चंडी उसे,
अरि मुंडो की माल प्रदान करें चल ।।

□

आह न जाती है व्यर्थ कभी,
जलियाँन का बाग भी आग बनेगा ।
दीनों की आर्त कराहों से, क्रंदन
से रिपुनाशक राग बनेगा ।
लूटी गई इन माँगों का सिंदूर,
ही जय का अनुराग बनेगा ।
माँ ! अब शोणित से रिपु के,
धुल के तेरा साज सुहाग बनेगा ।।

□

याद रहे कि किसी दिन शासन,
शोषक वर्गों का गारत होगा ।
चूर हुआ अभिमान अराति का,
श्री चरणों पे तेरे नत होगा ।
गर्वित होगा जयध्वज हाथों में,
पूर्ण स्वतंत्रता का व्रत होगा ।
है कवि में यदि लेश कवित्व तो
भारत ये फिर भारत होगा ॥

दया सिंधु से

दया सिंधु है नाव हमारी कहाँ,
इसे ज्वार कहाँ लिये जा रहे हैं ?
नहीं ज्ञात क्या सोच ये माँझी रहे,
किसी को कुछ दे न पता रहे हैं ।
रहे देख हैं भीषणता, पर यात्रियों
को यही स्वप्न दिखा रहे हैं ।
अरे साथियों देख तो लो, हम
सिंधु में कैसी छलाँग लगा रहे हैं ॥

कवि

मुक्ति दिलाने को रौरव से,
हम स्वर्ग से साग्रह लाये गये हैं।
दैन्य मिटाने को भूतल के,
कर आर्त पुकार बुलाये गये हैं।
है कुछ भी न अलभ्य हमें,
हमको वह मंत्र सिखाये गये हैं।
जाग उठे शव जीवित हो,
जब गीत हमारे सुनाये गये हैं।

□

कहीं कल्पना जाती है जो उसको,
हमीं मूर्त स्वरूप दे आकृति देते।
नई चेतना दे, नया जीवन ला,
दलितों को हमीं नव जागृति देते।
जगा वेद की प्राणदा व्याहृतियाँ
भी, सुधार हमीं निज संस्कृति देते।
कला शक्ति से, वाणी के वैभव से,
हमीं स्वर्ग सी साज ये संसृति देते॥

परिचय

पावन विश्व किया जिसने,
उस भागीरथी का प्रवाह हूँ मैं ।
रोक न बाधा सकी जिसको,
उस साहसी का महोत्साह हूँ मैं ।
कंटक एक नहीं मिलता,
जिसमें सुथरी वह राह हूँ मैं ।
मार्ग प्रदर्शक दीनों का, निस्पृह
न्याय की नेक निगाह हूँ मैं ॥

□

साधक की दृढ़ धारणा हूँ,
ध्रुव ध्यान हूँ, ध्याता हूँ, ध्येय हूँ मैं ।
गौरव हूँ गरिमामय का,
गुरु ज्ञान हूँ, ज्ञाता हूँ, ज्ञेय हूँ मैं ।
आश्रय हूँ सचराचर का,
अभिवंदित हूँ, उपादेय हूँ मैं ।
व्यष्टि, समष्टि सँजोये हुये,
अप्रमेय हूँ और अजेय हूँ मैं ॥

□

जौहर हूँ, जय की जय माला हूँ,
जागृत ज्योति की ज्वाला हूँ मैं ।
विश्व प्रकाशित है जिससे,
रवि का वह स्वस्थ उजाला हूँ मैं ।
ओर न छोर कहीं जिसका,
विधि की वह विस्मयशाला हूँ मैं ।
हीरक हार हरिप्रिया का,
हरिकंठ की मणिक माला हूँ मैं ॥

कलमष धोता है जो कलि के,
उस पुण्य का पावन पाथ हूँ मैं।
सत्य सुशोभित है जिससे,
शिव शक्ति का सुन्दर साथ हूँ मैं।
क्या भय है भव के भय का,
नहीं दीन हूँ या न अनाथ हूँ मैं।
रक्षण में जग के रत जो,
उस नाथ का दाहिना हाथ हूँ मैं॥

———

बे मन प्यार नहीं मिलता है

याद न रे उसकी कर जो,
मन के अनुसार नहीं मिलता है।
भूल रहा यह क्योंकि कहीं
पर बेमन प्यार नहीं मिलता है।
रोने से अश्रु बहाने से,
याचना से अधिकार नहीं मिलता है।
प्रेमी को पीड़ा को छोड़, कहीं
कुछ प्रेमोपहार नहीं मिलता है॥

———

रे मन

बीत गये दिन जो उनकी,
अब याद में व्याकुल होना वृथा है।
क्योंकि अतीत अतीत हुआ,
गत के गत स्वप्न सँजोना वृथा है।
ये छवि, रूप हुये किसके,
इनकी सुधि में सुधि खोना वृथा है।
कैसे सँयोग वियोग यहाँ,
अकुला कर अश्रु पिरोना वृथा है।।

☐

ये ध्रुव है कि किसी दिन तो,
यह दूर अवश्य अँधेरा भी होगा।
है रहना न वियोग निरंतर,
छिन्न विषादों का घेरा भी होगा।
आयेगा स्वस्थ सँयोग सुनिश्चित,
प्रीतम का फिर फेरा भी होगा।
रे मन व्यर्थ निराश न हो,
बड़े चैन से रैन बसेरा भी होगा।

☐

हैं दिन दूर नहीं अब वे, जब
ये बदली हट जायेगी प्रीतम।
अंतर की यह आतुरता,
अब खींच तुम्हें यहीं लायेगी प्रीतम।
हास भरी मधु की रजनी,
फिर गीत सँयोग के गायेगी प्रीतम।
जीवन के मरु में रस की,
सरिता फिर से लहरायेगी प्रीतम।।

☐

वेग प्रवाह न शंकित हो,
धर धैर्य किनारा यहीं मिल जायगा ।
तू लहरों पर क्यों अटका,
तट देख सहारा यहीं मिल जायगा ।
डूबा है रे जिस चिंतन में
उससे छुटकारा यहीं मिल जायगा ।
क्या उस पार धरा, तुझको
तेरा प्राणों से प्यारा यहीं मिल जायगा ।

दया सिंधु

उठी वाष्प की राशि दृगंबु से तो,
घनों सी घनीभूत यों होने लगी।
युगों का घिरा ध्वान्त समाप्त हुआ,
अघौं की अभा झाँकने कोने लगी।
हठी न्याय को होना विनम्र पड़ा,
क्षमा पाप का अंचल धोने लगी।
दयासिंधु में ज्वार से आने लगे,
कविता नये गीत संजोने लगी ॥

□

अनायास ही जागी परा, अना-
-यास ही भोगाभिशापों का अंत हुआ।
अनायास ही कष्ट कटे, अना-
यास ही व्यग्र विलापों का अंत हुआ।
अनायास ही पा गया वांछित मैं,
अनायास ही तापों का अंत हुआ।
अनायास ही पुण्य के द्वार खुले,
अनायास ही पापों का अंत हुआ ॥

□

क्षीरधि हो अति व्यग्र उठा,
सहसा अति आर्त पुकारों से मेरी।
चौंक पड़े करुणाकर भी,
झुँझलाई हुई ललकारों से मेरी।
मैं अति विस्मित हूँ कि तरी,
किस भाँति चढ़ाव उतारों से मेरी।
पार लगी, पहुँची तट पे,
हुई मुक्ति भयंकर ज्वारों से मेरी ॥

दया सिन्धु हैं, दौड़ ही तो पड़े वे,
सभी भाँति सँभालने धाये मुझे।
अनायास ही मुक्ति दे संकटों से,
महाबाहु उबारने आये मुझे।
किये दैन्य के ज्वारों ने यत्न सभी,
वश में कर किंतु न पाये मुझे।
द्रवीभूत हो पापों को भूल मेरे,
प्रभु पार उतार ही लाये मुझे।।

□

बिना साधन के मिली सिद्धि मुझे,
बिना याचना के सुख भोग मिले।
हुआ बुद्धि को विस्मय, ऐसे यहाँ
अप्रत्याशित स्वर्ग सुयोग मिले।
इसे मैं अनुकंपा न तो क्या कहूँ,
मुझ जैसे को ऐसे संयोग मिले।
बिना यत्न के मार्ग से बाधा हटी,
बिना विघ्न के सिद्ध प्रयोग मिले।।

□

आदि मिला न किसी अथ के भाप,
का न किसी इति की इति ही मिली।
हैं लगते मिलते, मिलते पर
अँबर से न कहीं क्षिति ही मिली।
आगत के न किसी कल में गत के,
कल की पुनरावृत्ति ही मिली।
दृष्टि जहाँ तक, बुद्धि जहाँ तक,
मात्र तुम्हारी चमत्कृति ही मिली।

निराकार ?

कला भी कही ब्रह्म गई, जिनकी
परिव्याप्ति अनंत अपार सी है।
जिन्हें नेति हो गाथा गया, जिनकी
कथा में गिरा भी गई हार सी है।
उन्हें ही कहें निर्गुणी, कैसे कहें,
यह मान्यता कैसी असार सी है।
निराकार हैं वे, मुझे तो लगता,
यह कल्पना ही निराधार सी है॥

□

होते निराकृत वे यदि तो,
यह रंग न होते, ये रूप न होते।
होते ये भाग, विभाग नहीं,
उपमेय न होते, अनूप न होते।
होते ये वर्ण, न वर्ग कहीं,
न प्रजाजन होते, ये भूप न होते।
हो सकता न प्रमाणित ही कुछ,
साक्ष्य लिये खड़े स्तूप न होते॥

जिज्ञासा

हूँ यदि ब्रह्म स्वरूप, शिवोहम्,
तो यह भौतिक बंधन क्या हैं ?
हैं यदि वे प्रति रोम रमे,
फिर पीड़ित कठों में क्रंदन क्या हैं ?
इंगित सा करते किस ओर,
निरंतर श्वासों के स्पंदन क्या हैं ?
जीवन पीछे है भाग रहा-
जिनके, वह माया के स्पंदन क्या हैं ?

□

निर्गुण हैं कि गुणी, सुप्रमाणित
उत्तर जानना चाहता हूँ।
व्याप्ति चराचर में उनकी,
पर क्योंकर जानना चाहता हूँ।
बद्ध हुए हम वे किस भाँति,
परस्पर जानना चाहता हूँ।
मैं तन पिंजर के घर में,
उनका घर जानना चाहता हूँ।।

□

मुक्त अनाम कहें, कि सुनाम
जपें, उस नामी से पूछना है।
अंतर - बास कहाँ उसका,
उस अंतर-यामी से पूछना है।
है मिलता किस भाँति, किसी
उसी के अनुगामी से पूछना है।
हैं हम क्या, भव क्या, बस
प्रश्न यही उस स्वामी से पूछना है।।

—०—

दीपावली

तम सिंधु में डूबे हुए जग को,
लिये मंजु प्रकाश उबारने आईं ।
अभिशप्त सी याकि अमा निशा के,
शुभे ! शोक समस्त निवारने आईं ?
कुछ तो कहो कौन हो चंद्राननने,
किसका दुख भार उतारने आईं ?
छवि की मदिरा सी पिये किसका,
तुम रूपसि रूप सँवारने आईं ?

□

मुसकान में स्वर्ण सरोज खिला,
अभिमान में रूप के फूली हुईं ।
ठगने जग को चलीं मायामयी,
लिये मोहन तंत्र की तूली हुईं ।
रचने चलीं रास या पीतांबरे,
सज के अधरांक में झूली हुईं ।
छिप सी गईं चन्द्र कलायें कहाँ
अपने अभिमान को भूली हुईं ।

□

धनवान क्या, निर्धन क्या, सभी को
नवोत्कर्ष सा दीप्त उजाला लिये ।
दुखियों की दरिद्रता दाहने को,
शिवनेत्र सी भीषण ज्वाला लिये ।
प्रकटीं वरदान सा देती हुई,
कमलानमे ज्योति विशाला लिये ।
खड़ी भक्त सी संसृति स्वागत को,
उपहार में दीपक माला लिये ।।

सह सा नव ज्योति के आगम से,
बहसा मही पातक पंक चला।
तम त्रस्त सा होता हुआ भय से,
छिपने के लिये क्षिति अंक चला।
जयमाल सी कंठ में डाले हुए,
विजयी हो प्रकाश निशंक चला।
पड़ राहु के विभ्रम में अथवा,
कुहू पे शर ताने मयंक चला।।

□

स्वागत में कमलाकर के,
यह कंचन से धरा धोयी गयी है।
सिंधु सुता पद पूजन को,
शुभ आरती याकि सँजोयी गयी है।
याकि सजाई बसुंधरा पे,
परियों की प्रदर्शिनी कोई गयी है।
याकि मही तम तोड़ने को,
लता पावन ज्योति की बोयी गयी है।।

—:o:—

मिले हर्ष ही

दिखा रूप दो ऐसा कि देख जिसे,
फिर कल्पना और न जाये कहीं।
सुना तान दो ऐसी कि मानस को,
फिर शून्यता घेर न पाये कहीं।
बसो चेतना में इस भाँति कि भौतिक-
-ता न मुझे भटकाये कहीं।
मिले हर्ष ही "हर्ष" के मन्दिर में,
यहाँ दृष्टि विषाद न आये कहीं॥

तुम्हें भाव की भूख है

मिली प्रेरणा जो अनुभूतियों से,
उसे गीतों में ढाल के लाया हूँ मैं।
लगे काव्य की दृष्टि से कैसी भी ये,
पर सत्य उजाल के लाया हूँ मैं।
किसी और को भाये न भाये प्रभो!,
तुम्हें भाये सँभाल के लाया हूँ मैं।
तुम्हें भाव की भूख है, भावों का ही
नवनीत निकाल के लाया हूँ मैं॥

मित्र

हैं मिलते, अब भी मिलते,
अति दूर बुराइयों से मिलते हैं।
मित्र जिसे कहते अपना,
उससे गहराइयों से मिलते हैं।
हो कितनी विषम स्थिति ये,
बढ़ के सगे भाइयों से मिलते हैं।
किंतु सखे बड़े भाग्य से और
बड़ी कठिनाइयों से मिलते हैं ॥

धनहीनता

देख उपेक्षा से आह इन्हें,
सब रूखे जवाब दिया करते हैं।
दीनों का कौन हुआ जग में,
कण भी उपहास किया करते हैं।
केवल राम भरोसे पड़े बस,
रोया यहाँ दुखिया करते हैं।
देख जहाँ धनहीन को भिक्षुक
भी मुख मोड़ लिया करते हैं ॥

माया

मिटते रहे नित्य अतीत तथा
नित निर्मित नूतन होते रहे ।
ढलते रहे सांध्य, प्रभात, निशा,
दिन नव्य पुरातन होते रहे ।
जितने यहाँ आये, गये, न रुके,
जड़, चेत अचेतन होते रहे ।
पर माया नटी न नटी जग में
इतने परिवर्तन होते रहे ॥

होली

द्वेष भुला सकती दुनिया,
वह पंथ न आह चला सका मानव ।
छा सकती जग पे, कर प्रस्तुत
ऐसी न कोई कला सका मानव ।
होली निरर्थक है, जिसमें
मन को न बना उजला सका मानव ।
और जलाया ही क्या, यदि
द्रोह के दानव को न जला सका मानव ॥

—०—

पंद्रह अगस्त

अंतिम निशा से पारतंत्र्य ग्रस्त जीवन की,
मुक्त आर्य देश मुक्त गान करने लगा।
तीव्रतर प्रखर करों के शर छोड़, ध्वस्त
अर्यमा[1] तमी का अभिमान करने लगा।
तुहिन उड़ा के घनघोर दुष्ट दासता का,
शक्ति नई पवन प्रदान करने लगा।
पुच्छल गिरा है परतंत्रता पिशाचिनि पे,
पश्चिमीय शासन प्रयाण करने लगा ॥

□

व्योम पर प्राची के स्वतंत्र सूर्य आये आज,
भारती हुई है मुक्त वारुणी प्रमत्ता से।
विवश हुई है वृत्ति आसुरी पलायन को,
हार मान आतमशक्ति ईश्वर प्रदत्ता से।
चूम रहा गगन त्रिवर्ण केतु गर्वित हो,
होकर सुशोभित स्वराज्य, शक्ति सत्ता से।
पावन हुआ है पुण्य पर्व सा स्वतंत्रता का,
पंद्रह अगस्त का प्रकाश प्राण वत्ता से ॥

□

सफल अहिंसा के पुनीत चरणों पे आज,
मस्तक झुकाया हार मान अभिमानी ने।
दीप्त हुए कैसे पुण्यदीप दीप माला तुल्य,
खोला मणिकोष लगता है किसी दानी ने।
कैसा दिव्य तेजोमय तेज प्रकटा है, किये
अर्पित प्रणाम आर्य भू के प्रति प्राणी ने।
मानों दर्प दंभी द्रोहियों का दलने के हेतु,
खप्पर भरा है तान भृकुटि भवानी ने ॥

□

---

१. सूर्य

जहाँ कर्ण से दानी हुये कभी,
और दिलीप नरेश से त्यागी हुये।
हरिश्चंद्र से सत्य के रक्षक थे,
जहाँ भीष्म से बीर विरागी हुये।
रचे व्यास ने शास्त्र जहाँ, यम-
दग्नि के पुत्र से युद्धानुरागी हुये।
उसी वंदिता भूमि के लाढ़िले,
आज स्वदेश विभाजन भागी हुये॥

तुम्ही नहीं हो

किसी एक के बाँट नहीं पड़ी है,
प्रतिभा से प्रभूत हैं लाखों यहाँ।
जिन्हें देख के झूम कला उठती,
कला के वे सपूत हैं लाखों यहाँ।
मदोन्मत्त हो व्यर्थ ही फूले हुए,
तुम से जड़ीभूत हैं लाखों यहाँ।
अरे किंशुकों एक तुम्हीं नहीं हो,
ऋतुराज के दूत हैं लाखों यहाँ॥

तेरी महिमा

कैसी घोर विषम परिस्थिति है घेरे हुये,
उलझ गई जो ग्रंथि सुलझ न पाती है।
कण दिखता है मेरु, बिंदु लगता है सिंधु,
तुच्छ अणुता भी व्योम गौरव जताती है।
देख कर ऐसी दशा अपनी अचानक ही,
मेरे नाथ! मेरी मति तेरी ओर जाती है।
क्योंकि महिमा के सिंधु! मेरे इस जीवन में,
तेरी महिमा ही नित्य मेरे काम आती है॥